गंगा पुस्तक-माला का १४८वां पुष्प

प्रबंध-पद्म

[चुने हुए साहित्यिक निबंध]

लेखक
पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'
[अलका, अप्सरा, लिली, परिमल, उच्छृंखल,
महाभारत आदि पुस्तकों के रचयिता]



मिलने का पता—
भारती (भाषा) भवन
देहली

द्वितीयावृत्ति
सं० २०११ वि० 3)

प्रकाशक

श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

गंगा-ग्रंथागार—३६, गौतमबुद्ध मार्ग लखनऊ
इंडियन पब्लिशिंग हाउस—नई सड़क देहली
सुधा प्रकाशन, राजा बाजार, लखनऊ
राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, मछुआ टोली, पटना
तथा प्रचारक—सैकड़ों जगह

मुद्रक
कुमार फाइन आर्ट प्रेस
चाह रहट, दिल्ली

समर्पित

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के पद को प्राप्त कर मेरे मनोराज्य के सत्य, शिव और सुंदर आचार्य श्रीमत् स्वामी सारदानंदजी महाराज की स्नेह-दृष्टि को सभक्ति 'प्रबंध-पद्म'।

कृपाकांक्ष—
सूर्यकांत

शून्य और शक्ति

बिंदु या शून्य सब शास्त्रों में, सब तरफ़, सब समय, स्वयंसिद्ध है। उद्भव, स्थिति और प्रलय का शून्य ही मूल-रहस्य है। केवल शक्ति संसार को शून्य से अलग किए हुए है, दूसरे तरीक़े से, शून्य की ही व्याख्या करने मे सदैव तत्पर। लोग गणित या गणना मे पडकर हिसाब जोडते, संख्या ठीक करते, उसकी वृद्धि में लगे हुए शून्य को नफरत की निगाह से देखते हैं, पर अगल-बग़ल से शून्यों से दबी हुई उनकी संख्या आप बृहत् ज्ञान के मुकाबले असिद्ध रह जाती है। गणित की संख्या की तरह संसार के जीव और तमाम भावनाएँ दोनो तरफ़ से शून्यो से दबे हुए हैं।

संख्या का उद्गम-स्थल है शून्य ०। इस शून्य की दाहनी तरफ अगणित प्रसार तक संख्या बढ़ती है, और बाईं तरफ अगणित प्रसार तक घटती है (दशमिक द्वारा)। सौ, हज़ार, लाख, करोड़ आदि के किसी कोठे मे रह जाना गणित का मूल-तत्त्व हासिल कर लेना न हुआ, जब कि संख्या और बढ सकती है; यही बात घटाव के संबंध मे भी; पुनः सख्या द्वारा दोनो तरफ के घटाव-बढ़ाव के दो अगणित दो शून्य ही हुए। फिर तीन शून्यो का समधर्म मे एक शून्य रह जाना बिलकुल स्वाभाविक है। अतः शून्य ही तमाम गणित का मूल आधार हुआ। रेखागणित में भी बिदु सब कुछ है। बिंदु छीन ले, तो रेखाएँ, कोण आदि असिद्ध रह जायँ। यही बीजगणित का हाल है। बीज स्वयं गोलाकृति शून्य है। उसकी जगह 'क' कीजिए या 'च', एक ही बात है।

अब संसार की भावनाएँ लीजिए। भावनाएँ शब्द-रचना

द्वारा, एक-क विशिष्ट अर्थ तथा चित्र द्वारा परिस्फुट होती हैं । अर्थ शब्दों द्वारा, शब्द वर्णों द्वारा । ॐ सब वर्णों का सम्मिलित दृश्य रूप है । इसकी समाप्ति ऊपर के शून्य या बिंदु मे होती है । फिर केवल शून्य रह जाता है । शून्य ही तमाम शब्द-विद्या का केंद्र-स्थल है, इसलिये संसार की व्यक्त-अव्यक्त सभी भावनाएँ शून्य मे पर्यवसित हुई ।

आज पश्चिम के वैज्ञानिक विकास से पृथ्वी चमत्कृत है । वहाँ के विद्वान् कहते हैं, हम तरक्की कर रहे हैं । यानी सभ्यता मे संसरण जारी है । परतु वे नहीं जानते, विज्ञान के उद्भव का शून्य जब अ त के शून्य को आविष्कृत कर लेगा, यद्यपि यह आविष्कार आविष्कारक-मन की मृत्यु है, अतएव क्रिया-रहित, तब बीच की कुल आविष्कार-प्रगतियाँ, एक युग की जोती-बोई हुई जमीन के पड़ती पड़ जाने की तरह, शून्य-फल रह जायँगी, निर्वात-वक्षः सर की तरंगो की तरह अचपल शाति मे लीन । ऐसा ही हुआ है; ऐसा ही होगा । फिर किसी अगले युग में पुनः-पुनः उसी शून्य-समाप्ति से आविष्कार होते रहेगे—प्रकंपित मन की अलग-अलग सूरतें जड़ यत्रो मे परिणत होती रहेगी । वहाँ के विज्ञानाचार्यों का जो यह प्रश्न है कि शक्ति का नियामक कौन है, जिसका बाहर ही वे उत्तर निकाल लेना चाहते हैं, आप द्रष्टा की तरह बिलकुल अलग रहकर—इसके लिये हम कहेगे, जिस तरह यंत्र का आविष्कार बाहर से पहले भीतर होता है, उसी तरह यह नियामक भी भीतर ही प्राप्त होगा । जिस 'हम' ने यह सब आविष्कार किया, शक्ति का नियामक भी वही है । पाँच सौ बत्तियों की रोशनी और हज़ार बत्तियों की रोशनी आप नहीं पैदा हुई, यह शक्ति का भेद उसी 'हम' का किया हुआ है, जिसने ये बत्तियाँ बनाई, और जिनसे शक्तियों में घटाव-बढ़ाव होता है—बाह्य रूप से, वे उस शक्ति-भेद के उपकरण हैं । यंत्रों से और जो कुछ भी निकलता हो,

यंत्रकार का 'हम' नहीं निकल सकता। यंत्रकार के जिस 'हम' में तैयार करने की शक्ति है, उसके उसी 'हम' की भौतिक शक्ति यत्र-शक्ति मे काम कर रही है, क्योंकि 'हम' के पंचतत्त्वों से अलग कोई छठा तत्त्व यंत्र में नहीं लगा। इस 'हम' का आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगतियों की नाड़ी बंद एक बात है। 'हम' मरे हुए मन में शून्य के सिवा कुछ नहीं; तब विज्ञान का आधार भी शून्य ही हुआ।

पृथ्वी शून्य, सूर्य शून्य, चद्र शून्य, तारे शून्य, जल-कण शून्य, चिनगारी शून्य, हवा का आवर्त शून्य, अणु-परमाणु शून्य, स्वेद-अंड-पिंड शून्य, प्रकृति का प्रत्येक बीज शून्य।

इस शून्य के आधार पर सृष्टि अपनी 'सृज' में ही बाँकपन या कला पैदा कर रही है, इसीलिये सृष्टि सब रूपों में टेढी है। ग, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, दिन भिन्न-भिन्न अपना-अपना विशिष्ट सौंदर्य रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की तिर्यक् दशा। यही कला और सौंदर्य है। जन्म और मृत्यु, उठना और गिरना, भला और बुरा सब जगह। बीच का यह अगणित भी अगणित कलाओं मे परिपूर्ण हो रहा है। असंख्य भुज असख्य वृत्तियों के रंग मे असख्य चित्र तैयार कर रहे हैं। यहाँ विश्व-साहित्य की सार्वभौम पूर्णता है।

विकास के देखने या करने के अस्तित्व मे शक्ति का ही अस्तित्व है। शास्त्रानुसार शून्य और शक्ति अभेद हैं। फ़र्क़ इतना ही है कि जब शून्य मे स्थिति है, तब शक्ति का ज्ञान नहीं, क्योंकि 'वह नहीं काँपता' सिद्ध है, और जब शक्ति का परिचय है, तब शून्य का ज्ञान नहीं, 'क्योंकि वह काँपता है' सिद्ध है।

कार्यकरी शक्ति किसी असंपूर्ण को पूर्ण करने के लिये होती है। दैनिक जीवन मे भी हम यही तात्पर्य देखते हैं। ऐसा ही हाल एक बड़ी व्याप्ति का है। एक ही मनुष्य घर के भी कार्य करता है और देश तथा संसार के भी। यहाँ एक छोटी-सी सीमा में मनुष्य

की अणिमा और महिमा, गरिमा और लघिमा, सभी शक्तियों को अवकाश मिलता है, और वे अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। परंतु हैं वे अभेद। सिर्फ़ व्यक्ति-भेद की तरह उनके भी भेद हैं।

जिस तरह यह एक ही शक्ति व्यक्ति, देश तथा विश्व की शक्ति मे सम्मिलित हो सकती है, उसी तरह उसके कार्य भी अलग-अलग संकुचित, प्रसरित, रूप, गुण, तथा भाव पैदा करते हैं। हमारे साहित्य मे इस शक्ति का व्यापक कार्य अभी नही के बराबर है। हमारा मतलब हमारे नवीन साहित्य से है। इस शिथिलता के भी कारण हैं। जो बलात् साहित्यिकों को अनेक भावनाओं से संकुचित कर देते हैं। पर शिथिलता से लड़ना ही सभ्य होना है।

यही शक्ति के विकास का एक रूप है, युग-धर्म। यह सदा युग के साथ संबद्ध रहा है। अनेक पुरानी बातें, पुरानी आदतें, पुरानी राहें, पुराने विचार युग-धर्म के तकाजे पर अपना रूप परिवर्तित करना चाहते हैं। साहित्य यही काम करता हुआ अपनी शक्ति के परिचय से जीवित कहा जाता है, अन्यथा मृत या पश्चात्पद। विश्वभावना न भी हो, यदि जातीय भावना को ही श्रेय दिया जाय, तो भी किसी व्यक्ति के लिये अपने ही समाज के दायरे में रहने की गुंजायश नहीं रहती। इससे उस व्यक्ति का साहित्य देश-व्यापी प्रसार प्राप्त नहीं कर सकता। पुरानी प्रचलित सभी बातें एक वक्त नई और सुख-प्रद थीं, पर आज भी यदि उन्हीं की रक्षा के लिये सर पीटा गया, तो साहित्य में 'सृज' को स्थान नहीं मिल सकता और वह साहित्य-जीवन मृत है।

हम एक उदाहरण मूर्ति-पूजन का लेंगे। मूर्ति-पूजन के भीतर से हम भी वेदांत-सत्य साबित कर सकते हैं, औरों ने भी लिखा है, और मूर्ति-पूजन में वही है भी माननीय। यहाँ कहेंगे, वेदांत-सत्य पर आक्षेप किसी ने नहीं किया—हमारा मतलब शास्त्र से है, पर 'मूर्तिपूजाऽधमा-

ऽधमा' यही की संस्कृति है। मूर्ति-पूजन और पुराण-प्रेम यदि यहाँ के धर्मात्माओं से ले लिया जाय, तो धर्म की कुल पूँजी ग़ायब हो जाती है। और, इतनी ही बची हुई हिंदू-सभ्यता, धर्म-भाव, समाज-संस्कृति संसार के बड़े-बड़े भावो का मुकाबला करती हुई अपना अस्तित्व साहित्य मे अमर कर रक्खेगी, जहाँ बडे-बड़े विद्वान् कहलानेवालो को शृंगवेरपुर और अहल्या के स्थान-निर्णय से अभी फ़ुर्सत नही मिली !

आज का जड़-विज्ञान वर्मान मूर्ति-पूजा के ज्ञान से कितना आगे बढ़ा हुआ है, इसके साबित करने की आवश्यकता नही। मूर्तियो की पूजा कर प्रसाद-स्वरूप एक भाई के सिर पर दोहत्था लठ घमकनेवाले मूर्ति-पूजन का कितना बड़ा तत्त्व जानते हैं, यह तो यहाँ रोज साबित हुआ करता है। दस पैसे के स्वार्थ मे अशक्त एक सजीव मूर्ति की जान लेने के लिये तैयार धनीमूर्ति-पूजकजी अपनी उस प्रकार की स्थिति मे डटे हुए विश्व को हिला देंगे, ऐसे प्रसंग अपनी चौपाल की चारपाई पर ही लोग छेडा करे। बाहर हम लोगो को कुछ लज्जा लगती है। पुरुषो और स्त्रियों मे देव और देवियाँ नही, पत्थरो मे हैं। तेंतिस करोड़ देवताओ के देश मे रहनेवाले विद्वज्जन कुछ विचार कर लिखा करें। देवियाँ बनाई गई, या वे पहले ही से देवियाँ हैं सजीव।

ज्ञान तथा व्यवहार (ज्ञान-जन्य कर्म) का अहाता जितना बडा होगा, व्यक्ति या जाति भी उतनी ही बड़ी होगी। मुसलमान लोग धर्म का बहुत बड़ा व्यावहारिक ज्ञान लेकर जीत सके थे, और शताब्दियो तक भारत की भेड़ें चराई। मुसलमानो की तरह पश्चिम के लोग भी ज्ञान तथा कर्म, दोनो मे प्रसरित है। हमें इस जड-विज्ञान का अपने विस्तार से सामना करना है। ऐसे साहित्य की सृष्टि ही हमारा युग-धर्म है। वे तारो तथा बेतार के तार से काव्य-साहित्य-व्यवसाय आदि के द्वारा तमाम पृथ्वी को बाँधे हुए हैं, कोई भी देश,

कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध उनसे न हो। उनका अशरीर-शक्ति-प्रवाह एक देश से दूसरे देशों को अविराम बहता जा रहा है, भले उसका उद्देश्य मंद या निंद्य हो, पर हमारे ठाकुरजी तो मंदिर के अहाते से बाहर भी नहीं निकल पाते, न हमारे ज्ञान से और न अपने कर्मों द्वारा। फिर हमारे पास वह कौन-सी सूरत है, जिसे देखकर हम उससे सहयोग या प्रतियोग करें ? चौके के अंदर कैद रहकर प्रतिरोध तो काफ़ी कर चुके। पर अशरीर वह तो छूकर ही बह रहा है। मन मे सब तरह से समाया हुआ है।

इसीलिये हम समाज तथा साहित्य मे अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमन्त्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सबमे व्यक्त, अपनी ही आँखों से विश्व को देखती हुई अपने ही भीतर उसे डाले हुए है; पानी की तरह सहस्रों ज्ञान-धाराओं मे बहती हुई, स्वतंत्र; किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्ज्वल, अम्लान, मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री, सर्वशाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिरकमनीय।

साहित्य और भाषा

भाषा-क्लिष्टता से सबंध रखने वाले प्रश्न हिंदी की तरह अपर भाषाओं मे नहीं उठते। हिंदी को राष्ट्र-भाषा माननेवाले या बनानेवाले लोग साल मे तेरह बार आर्त चीत्कार करते है—भाषा सरल होनी चाहिए, जिससे आबाल-वृद्ध समझ सके। मैने आज तक किसी को यह कहते हुए नही सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए, जिससे अनेक शब्दो का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढे।

हिंदी की सरलता के सबंध मे बकवास करनेवाले लोगो मे अधिकाश को मैंने देखा—लिखते बहुत है, जानते बहुत थोड़ा है। कम-से-कम हिंदी से तो उनका तअल्लुक स्कूल से जब से छूटा, छूटा ही रहा। फिर हिंदी की विशेष शिक्षा प्राप्त करने की उन्हे जरूरत नहीं मालूम दी। जरूरत रही दूसरो को सिखलाने की। साधारण जनो का पक्ष लेकर वे बराबर अपने अज्ञान पर मिट्टी डालते रहे।

एक सवाल राष्ट्र-भाषा द्वारा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का उठता है। इसके लिये भी हिंदी को भरसक असंस्कृत करने की जरूरत बतलाई जाती है, जैसे मुसलमानों मे राष्ट्र-भाषा का सिक्का जम गया हो, और वे क्रमशः हिंदी-साहित्य के उदार उदर में प्रवेश कर रहे हो। हिंदोस्तानी एकेडमी के पदवीधर पदाधिकारियो की ऐसी ही राय है। वे लोग स्वयं कुछ हिंदी जानते हैं या नहीं, यह मत पूछिए, इनकी जाँच व्यर्थ है। उनकी राय सुन लीजिए। ऐसी भावना से प्रेरित हो कुछ कवियो ने कलम के कुल्हाडे से राष्ट्र-भाषा की लकडी से काव्य के कुछ चैले चीरे भी हैं, जिनके मुकाबले 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठति अग्रे' बहुत सरस है।

कुछ हो, राष्ट्र-भाषा का वह काव्य सरल तो है, लोग आसानी से समझ तो लेते है।

यथार्थ साहित्य नेताओ के दिमाग़ के नपे-तुले विचारो की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठो मे बद होकर नहीं निकलता। वह किसी उद्देश को पुष्टि के लिये नहीं आता, वह स्वय सृष्टि है। इसीलिये उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा मे नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है। जब कुछ खास आदमियो के कल्याण की बात सोची जायगी, तब कुछ खास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। यह अनुल्लंघ्य दर्शन है। इसीलिये बृहत् साहित्य यानी ऊँचे भावो से भरा हुआ साहित्य कभी देश, काल या सख्या मे नहीं रहा और उसी से देश, काल और सख्या का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है। उन प्राचीन बड़े-बडे साहित्यिको की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। सोलह आने मे चार आने जनता के लायक़ रहना साहित्य का ही स्वभाव है। क्योंकि सब तरह की अभिव्यक्तियाँ साहित्य मे होती हैं। तुलसी-कृत रामायण का हमारे यहाँ सब पुस्तको से ज्यादा प्रचार है, दूसरी किताब समाप्त होने से पहले ही लड़कियाँ सुंदरकाड खोलकर "जामवत के वचन सुहाए, सुनि हनुमान-हृदय अति भाए।" पढने लगती है। इसके मानी यह नहीं कि तुलसीदासजी ने बडी सीधी भाषा मे रामायण या अपने दूसरे ग्रंथ लिखे हैं। रामायण कहीं-कहीं, जहाँ जैसे कठिन भाव आए हैं, इतनी मुश्किल है कि अच्छे-अच्छे विद्वानो के छक्के छूट जाते हैं। इसके अलावा साद्यंत रामायण सालंकार है। यह सब साधारण लोग समझ सकते हैं, यह किसी साहित्यिक नेता के सिवा यथार्थ अनुभवी विद्वान् कभी न कहेगा। रामायण के प्रचार का कारण रामचरित है, जिसका हज़ारों वर्ष पहले से अनेकानेक रामायणों तथा कथाओं द्वारा प्रचार होता आया है। संस्कार यहाँ के

लोगो के ऐसे ही बन गए हैं। क्लिष्टता के बारे मे यही हाल सूरदासजी की कविता का भी है। वे भी कम मुश्किल नही। अलंकारो के सिवा एक कदम नही उठाते।—

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।"

यह सब साधारण जनो की समझ मे आने लायक़ काव्य नहीं। कबीर तो अपनी विशेषता मे और मुश्किल हैं। पंडित न होते हुए भी अलकार लिखते हैं। केशव अपनी क्लिष्टता के लिये काफ़ी बदनाम हैं। ये चार हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि है। बिहारी की ठेठ देहाती बगैर टीका देखे मैं अब भी नही समझ पाता। उर्दू के गालिब मुश्किल लिखने के लिये काफ़ी बदनाम थे। पर वही उसके सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। शेक्सपियर के गीतो के भाव गहन, भाषा तदनुकूल है। शेली की भाषा और भी लच्छेदार। रवींद्रनाथ भी इसके लिये कम बदनाम नहीं थे। वह मुश्किल-आसान दोनों तरह की भाषा लिखते है, पर भाव साधारण जन नहीं समझ सकते। एक बार 'चरका' प्रबध मे उन्होंने महात्माजी पर जो 'आक्षेप किया था, उसकी दिल्लगी तथा पेचीदे भाव पर महात्माजी ने अपने लोगो को समेटकर समझाया था कि तुम लोग उसका अर्थ कुछ-का-कुछ समझ लोगे। अर्थात् महात्माजी के लोग इतने पुष्ट विचारों के हैं! फिर नेतृत्व का एक संस्कार भी होता है, जो चेतन को जड़ और समझदार को मूर्ख मानता है।

अस्तु। बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन भावो को व्यक्त करने में प्रायः भाषा भी कठिन हो गई है। जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव तथा भाषा की उतनी ही गभीरता तक पैठ सकता है, और पैठता है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही बिचार रखना चाहिए। भाषा भावों की अनुगामिनी है।

जनता को तरह तरह की अहितकर अनुकूल सीख न देकर कुछ परिश्रम करने के लिये ही कहना ठीक होगा। जिनको संधि-समास का भी ज्ञान नही, ऊँचे साहित्य की सृष्टि उनके लिये नहीं, न "Words in one syllable" असमस्त शब्दो की किताबे लिखने से राष्ट्र-भाषा का उद्धार हुआ जाता है।

जो लोग समय को देखते हुए अपनी पुस्तको या पत्रो के प्रचार के लिये उनमें साधारण भाषा और सरल भावो के रखने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसा व्यवसाय की दृष्टि से करते हैं। यह हिंदी का हित न हुआ। हित तो गहन शिक्षा द्वारा ही होगा।

हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के लिये ललित शब्दावली की टॉग तोड़कर लॅगड़ी कर देने से लड़खड़ाती हुई भाषा अपनी प्रगति मे पीछे ही रहेगी। हमारा यह अभिप्राय भी नहीं कि भाषा मुश्किल लिखी जाय; नहीं, उसका प्रवाह भावो के अनुकूल ही रहना चाहिए। शान निकली हुई और गढी हुई भाषा छिपती नही। भावानुसारिणी कुछ मुश्किल होने पर भी भाषा समझ मे आ जाती है। उसके लिये कोष देखने की जरूरत नही होती। जिस तरह हिंदी के लिये कहा जाता है कि वह अधिकसंख्यक लोगो की भाषा है, उसी तरह यदि अधिक संख्या उसकी योग्यता को भी मिलेगी, तो योग्यतम की विजय में फिर कोई असंभाव्यता न रह जायगी। इसके लिये भी भाषा-साहित्य मे अधिकाधिक प्रसार की आवश्यकता है। जो लोग साधारण भाषा के प्रेमी हैं, उनके लिये साधारण पुस्तकें रहेंगी ही। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तको की तरह भाषा-साहित्य का भी स्तर तैयार रहेगा।

प्रायः यह शिकायत होती है कि छायावादी कविताएँ समझ में नही आती, उनके लिखनेवाले भी नही समझते, न समझा पाते हैं। इस तरह के आक्षेप हिदी के उतरदायी लेखक तथा संपादकगण किया करते हैं। कमजोरी यही पर है। हिंदी में बहुत-से लोग ऐसे भी हैं, जो छायावादी

कविताएँ समझते हैं। उन्होने समर्थन भी किया है। मैं अपनी तरफ़ से इतना ही कहूँगा कि छायावाद की कविताएँ भाषा-साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप हैं! जहाँ-जहाँ उन कविताओ मे खूबी आगई है, वहाँ-वहाँ बहुत अच्छी तरह यह प्रमाण मिल जाता है। जिन स्थानो मे धुँधलापन है, भावों का अच्छा प्रकाशन नही हुआ, चित्र चमकते हुए नही नजर आते, वहाँ सामयिक दुर्बलता है, जिससे आगे बढ़ने की साहित्य तथा साहित्यिकों को जरूरत है। जो लोग यह कहते हैं कि खड़ी बोली की कुछ प्राचीन काल की कृतियो की तुलना मे आधुनिक कविताएँ (मेरा मतलब दोनो समय की अच्छी कविताओ से है) नहीं ठहरतीं, मैं उन्हे अत्युक्ति करते हुए समझता हूँ। मुझे दृढ़ विश्वास है, यह मेरी नही, उन्हीं की अल्पज्ञता है। वे साहित्य के साथ अन्याय करते हैं।

गैर लोगों को अपने मे मिलाने का तरीक़ा भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमे व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है। व्रज-भाषा भाषा-साहित्य के विचार से बड़ी मधुर भाषा है। उसके शब्द टूटते हुए इतने मुलायम हो गए है, जिससे अधिक कोमलता आ नहीं सकती। व्रज-भाषा का प्रभाव तमाम आर्यावर्त तथा दाक्षिणात्य तक रहा है। सभी प्रदेशों के लोग उसकी मधुरता के क़ायल थे। बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओ में उसकी छाप मिलती है। व्रज-भाषा-साहित्य के अंग के अपर प्रांतवाले लोग भी अपनी भाषा को व्रज-भाषा की तरह, उसी तूलिका से, मधु-सिक्त कर देते है। यही साधना वर्तमान खड़ी बोली के लिये जरूरी है। पहले के अनेक मुसलमान-कवि व्रज-भाषा के रँग मे रँग गए थे। उनके पद्य हिंदू-कवियों के पद्यो से अधिक मधुर हो रहे हैं। यही स्वाभाविक खिंचाव खड़ी बोली की कोमलता तथा व्यापकता मे आना चाहिए। अच्छे को अधिकाश लोग अच्छा कहते है। यों तूल-तकरारवाली बातें

तो हैं ही, और होती ही रहेंगी, प्रचार का इससे अच्छा उपाय आज तक संसार में दूसरा नहीं हुआ। जितने भी धर्म प्रचारित किए गए सब अपनी व्यापकता तथा सहृदयता के बल पर फैले। उनकी साधारण युक्तियाँ मृदुल, जल्द समझ मे आनेवाली, आलोचनाएँ तथा अपर सभ्य अंग वैसे ही गहन, अगाध विद्वत्ता से भरे हुए। हिंदी के लिये एक तरह की आवाज उठाने से अच्छा अनेक तरह का प्रदर्शन है, क्योंकि इससे कुछ प्राप्त होता है।

मुसलमान और हिंदू-कवियों में विचार-साम्य

सभ्यता के आदि-काल से लेकर आज तक जितनी बड़ी-बड़ी बातें साहित्य के पृष्ठों मे लिखी हुई मिलती है, उनके बाह्य रूपो मे साम्य न रहने पर भी वे एक ही सत्य का प्रकाश देती हैं। आज तक मानवीय सभ्यता जहाँ कही एक दूसरी सभ्यता से टक्कर लेती आई है, वहाँ उसके बाह्य रूपो मे ही वैषम्य रहा है, वेश-भूषणो, आचार-व्यवहारो तथा उच्चारण और भाषाओ का ही बहिरंग भेद रहा है। उन सभ्यताओ के विकसित रूप देखिए, तो एक ही सत्य की अटल अपार महिमा वहाँ मिलती है। थोड़ी देर के लिये, उदाहरणार्थ, हम मुसलमानो को ले सकते हैं। मुसलमानो से हिंदुओ की लड़ाई शताब्दियों तक होती रही। आज भी यदि भारतवर्ष के स्वतंत्र होने मे कही किसी को कोई अड़चन मिलती है, तो वह हिंदू-मुसलमानो का वैषम्य ही कहा जाता है। जगह-जगह, मौके-बेमौके, आज भी दोनो एक दूसरे की जान ले लेने को तैयार हो जाते हैं। बहुत कम हिंदू और बहुत कम मुसलमान ऐसे होंगे, जो इनमें से एक दूसरे के उत्कर्ष का पूरा-पूरा पता रखते हों। मुसलमानों के आक्रमण के समय से लेकर आज तक दोनो जातियो मे जो घृणा के भाव चले आ रहे हैं, वे दोनों जातियों की अस्थि-मज्जा मे कुछ इस तरह से मिल गए है कि सुप्त रहते हुए भी वे जाग्रत् ही रहते हैं। हिंदू लोग, आचारों को प्रधानता देते हुए, खुदा-परस्त मुसलमानों को म्लेच्छ आदि नामों से विभूषित करते हैं। उसी तरह मुसलमान भी हिंदुओं को मूर्ति पूजक देखकर उन्हें बुत-परस्त, काफ़िर आदि घृणा-सूचक शब्दों से याद करते हैं। सदियों से यह व्यवहार कुछ ऐसा चला आ रहा है कि दोनो के विचारों मे जहाँ साम्य है, वहाँ तक पहुँचकर

दोनो मे मैत्री-स्थापना की कोई चेष्टा ही नहीं की गई। जिन हिंदुओं को 'आचारः प्रथमो धर्मः' सिखलाया जाता है, और यह इसलिये कि आचारो से चित्त-शुद्धि होने पर ज्ञान या सत्य की प्रतिष्ठा मन मे हो सकेगी, वे हिंदू आचारो मे इस बुरी तरह बँध जाते है कि वे आचार ही उनकी आध्यात्मिक उन्नति के अंतिम लक्ष्य-से बने रहते हैं, यद्यपि 'अघोरान्नापरो मंत्रः' का वे प्रतिदिन पाठ किया करते हैं। इधर मुसलमानो को बुत ही से खुदा का पाठ मिला; पर वे बुत को घृणा ही करते गए, केवल काव्य मे ही रह गया।

"परिस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत तुझे—
नज़र मे सभो की खुदा कर चले।"—

किंतु बुतों के प्रति ये भाव उनके नही रह गए, यद्यपि बुत-रूपी अपने बीवी-बच्चों को सभी मुसलमान प्यार करते हैं।

आज, अब, विज्ञान के युग मे, जिस तरह पश्चिम की रोशनी से अपने गृह का अंधकार दूर करने के लिये राष्ट्रवादी हिंदू प्रयत्नशील हैं, उसी तरह मुसलमान भी। परंतु स्वार्थ एक अजीब सत्ता है। यहाँ प्राणो का भरा हुआ आनंद बिलकुल ही नहीं, सिर्फ़ एक अभाव की आग भड़कती है। देश दीन है, दुःखी है, परतंत्र है, स्वाधिकार-रहित है, इस तरह की अभाववाली जितनी भी बाते होगी, वे जिस तरह प्राण-हीन हैं, उनकी पूर्ति के लिये लड़ाइयाँ, उद्योग आदि भी उसी तरह प्राण-हीन। कारण, स्वार्थ ही दोनो का मूल है। यदि ब्रिटेन के वीर सिंह हैं और भारत के दीन कृषक मेष, तो विचार की दृष्टि में, दार्शनिक की भाषा मे, दोनो मनुष्यता से गिरे हुए हैं, और आधुनिक विकासवाद के अनुसार सिंह और मेष मे कौन-सी सृष्टि अधिक उच्च है, यह बतलाना भी ज़रा टेढ़ी खीर है। मतलब यह कि जिस विज्ञान के बल पर पश्चिम सिंह बन सकता है, वह जिस तरह मनुष्यता की हद से गिरा हुआ होता है, उसी तरह हिंदुओं का ज्ञान-मूल-रहित आचारवाद, जिसने सदियों

से उन्हें गुलाम बना रक्खा है, और मुसलमानों की खुदापरस्ती भी, जो बुतों से घिरी हुई रहकर भी उनकी सत्ता से घृणा करें ।

हिंदू और मुसलमान, दोनो जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं । इस लेख मे हम यही दिखलाने की चेष्टा करेंगे । साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि जब तक हिंदू और मुसलमान इस भूमि पर चढकर मैत्री की आवाज़ नही लगावेंगे, तब तक वह स्वार्थ-जन्य मैत्री स्वार्थ मे धक्का न लगने तक की ही मैत्री रहेगी—वैसी ही मैत्री, जैसी ब्रिटिश-सिंह और भारत-गऊ की हो सकती है ।

"न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता;
डुबाया मुझको होने ने, न होता मै तो क्या होता ।"

(ग़ालिब)

जब कुछ नही था, तब खुदा था । यदि कुछ न होता, तो खुदा होता । मुझे होने ने (भव ने, संसार ने, 'हुँ' इस भाव ने) डुबा दिया । मै न होता, तो क्या (अच्छा) होता ।

महाकवि ग़ालिब के ये भाव हर्फ़-हर्फ़ वेदात से मिलते हैं। जब कुछ नहीं था, तब खुदा था, यही वेदात की तथा हिंदू आस्तिक और नास्तिक दर्शनो की बुनियाद है । जहाँ ईश्वर की सत्ता है, वहाँ संसार नही । इसी पर गोस्वामीजी लिखते हैं—

"जिहि जाने जग जाय हेराई ।"

यहाँ दोनो के भाव एक ही है । 'होने' ने या 'भव' ने ग़ालिब को डुबा दिया है अर्थात् दुनिया के ज्ञान ने उन्हें समीम कर दिया है, ससार में डाल रक्खा है, जिसके लिये वह कहते हैं, यह न होता, तो क्या अच्छा होता ! तब केवल खुदा का ही अस्तित्व रहता, जिसके लिये तब कहा है—

"None else exists and thou art that"

कबीर भी कहते है, जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मोह नही रहता—

"सूर-परकास तहँ रैन कहँ पाइए
रैन-परकास नहीं सूर भासै;
होय अज्ञान तहँ ज्ञान कहँ पाइए
होय जहँ ज्ञान अज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइए,
होय जहँ प्रेम तहँ काम नाही ;
कहत कब्बीर यह सत्य सुविचार है
समझ तू, सोच तू, मनहिं माही।"

आज तक मनुष्यो के मनो ने जितनी ऊँची उडानें भरी हैं, वे सब यहीं आकर ठहरती हैं। अन्यथा लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई है। सासारिक जितने भी चमत्कार हैं, उन सब पर प्रभुता करनेवाली यही भूमि है, और संसार में जितने भी भेद हैं, उन सब मे साम्य स्थापित करनेवाली भी यही भूमि है। विना यहाँ आए हुए भेद का ज्ञान कदापि दूर नही हो सकता। यही हिंदुओं की अद्वैत-भूमि है। और, चूंकि यहाँ भेद भाव नहीं रह जाता, इसीलिये इसे अद्वैत कहा भी है।

नजीर कहते हैं—

"तनहा न उसे अपने दिले तग में पहचान;
हर बाग मे, हर दश्त मे, हर संग मे पहचान।
बेरंग मे, बारंग मे, नैरंग मे पहचान;
मंज़िल मे, मुक़ामात मे, फ़रसंग मे पहचान।
नित रूम में औ हिंद में, औ जंग मे पहचान;
हर राह में, हर साथ मे, हर संग में पहचान।

× × ×

हर आन में, हर बात मे, हर ढंग में पहचान;
आशिक है, तो दिलबर को हर रंग मे पहचान।

यहाँ दुनिया की लावण्यमयी श्री भी है और वहाँ उस प्यारे की खोज भी। यह यहाँ विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। यानी दुनिया भी है और खुदा भी। या यों कहिए कि वह खुदा ही दुनिया के अनेक रूपों मे विराजमान है। गो० तुलसीदासजी की एक उक्ति इसी अर्थ पर बहुत ही सुंदर हुई है—

"अव्यक्तमेकमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने;
षट कंध, शाखा पचविंश, अनेक पर्ण, सुमन घने।
फल युगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे;
पल्लवित, फूलित, नवल नित संसार-विटप नमामि हे।"

यहाँ राम को ही उन्होंने वेद के मुख से संसार-विटप कहकर संबोधित किया है, जिसकी तारीफ मे संसार की कोई वस्तु छोड़ी भी नही, जैसे तमाम संसार मे राम ही का रूप भर रहा हो।

एक जगह महाकवि ग़ालिब कहते हैं—

"तेरे सर्वे कामत से एकक़द्दे आदम,
क़यामत के फ़ितने को कम देखते है।"

यहाँ महाकवि ग़ालिब क़यामत को एक आदमी-भर लंबी बतलाते हैं यानी क़यामत उतनी बड़ी है, जितना लंबा एक आदमी। यह प्रलय की सर्वोत्तम व्याख्या है। हरएक आदमी मे प्रलय की नाशकारी कुल शक्तियाँ है, और वह चाहे, तो उन्हे प्रत्यक्ष कर सकता है। हर मनुष्य सौर-ब्रह्मांड से मिला हुआ भी उससे अलग है। संसार का अस्तित्व उसके पास सिर्फ़ इसलिये है कि वह अपने अस्तित्व पर विश्वास रखता है। जब मनुष्य सो जाता है, उस समय वह अपना अस्तित्व बहुत कुछ भूल जाता है। यही कारण है कि सुप्ति-काल मे संसार का ज्ञान नही रहता। संसार के सिर पर जो क़यामत क्रीड़ा कर रही है, इसको प्रत्यक्ष

करनेवाला वही है, और उसका शरीर भी क़यामत के क़ानून के अंदर है। इसलिये क़यामत को एक ही आदमी के कद के बराबर कहा, और यह केवल साहित्यिक उपमा ही नहीं, किंतु दार्शनिक महान् सत्य हो गया है।

बिलकुल यही भाव सूरदासजी के हैं, जहाँ उन्होंने बालक कृष्ण की वर्णना की है—"प्रभु पौढ़े पालने पलोटत" आदि-आदि। यहाँ भी श्रीकृष्ण के हिलने-डुलने से जो क्रिया होती है, वह प्रलय ही है—"बिडरि चले घन प्रलय जानि कै;" कारण, किसी भी चेतन के हिलने से सौर-ब्रह्मांड हिलता-डोलता है, यह सूरदासजी के कहने का मतलब है। श्रीकृष्ण की चेतन-क्रिया में संसार डोल रहा है, कहीं-कहीं प्रलय हो रहा है, दिग्दंती बड़े धैर्य से धरा-भार को धारण कर रहे हैं। यहाँ भी एक ही की चेतन-क्रिया से संसार में कयामत आ रही है, प्रलय मचा हुआ है. और इसे समझानेवाले सूरदासजी "सकट पगु पेलत"— धीरे-धीरे चल रहे हैं। ग़ालिब और सूरदास की उक्तियाँ बिलकुल मिल जाती हैं। कोई विरोध नहीं देख पड़ता। वहाँ भी एक ही क़द के बराबर कयामत की नाप होती है, और यहाँ भी एक ही कृष्ण की चेतन-क्रिया से आफ़त उठी हुई है। दोनों महाकवि इस सत्योक्ति में पूर्णतया सहमत हैं।

"कुछ ज़ुल्म नहीं, कुछ ज़ोर नहीं,
कुछ दाद नहीं, फ़रियाद नहीं
कुछ क़ैद नहीं, कुछ बंद नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं।
शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नहीं;
हैं जितनी बातें दुनिया की,
सब भूल गए, कुछ याद नहीं।
हर आन हँसी, हर आन ख़ुशी,

हर वक्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।
जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं,
उस दिलवर की फुलवारी है;
कहिं सब्जी की हरियाली है,
कहिं फूलो की गुलकारी है।
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं,
और आस उसी की भारी है;
बस, आप ही वह दातारी है,
और आप ही वह भंडारी है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा;
जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।
हम चाकर जिसके हुस्न के हैं,
वह दिलवर सबसे आला है;
उसने ही हमको जी बख्शा,
उसने ही हम को पाला है।
दिल अपना भोला-भाला है,
औ' इश्क बड़ा मतवाला है;
क्या कहिए और नजीर आगे,

अब कौन समझने वाला है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी;
हर वक्त अमीरी है बाबा,
जब आशिक मस्त फ़क़ीर हुए;
तब क्या दिलगीरी है बाबा।"

(नजीर)

कविवर नजीर यहाँ फकीरी का हाल बयान कर रहे है। यह वह फ़क़ीरी है, जब तमाम दुनिया मे अपना इष्ट-ही-इष्ट नज़र आता है। संसार की हर वस्तु मे उसी का रग चढ़ा देख पड़ता है। प्रहलाद के चरित्र-लेखक दिखलाते हैं कि शेर आता है, तो उससे भी प्रहलाद "हरि आए" कहकर लिपट जाते है। नरसी जी भूत देखते है, तो "आए मेरे लबकनाथ" कहकर गाने और प्रेम-विह्वल होकर नाचने लगते हैं। एक सिद्ध श्वान पर बैठा हुआ भोजन कर रहा था, और कभी कभी अपना अन्न उस कुत्ते को भी खिला दिया करता था। दूर से कुछ लोगों ने यह तमाशा देखा। उसके पास गए। कहने लगे—"तुम कुत्ते की जूठन खाते हो, कैसे आदमी हो?" वह सिद्ध बड़ी देर तक चुप रहा। तब भी इन लोगो ने अपना व्याख्यान बद नही किया। तब चिढ़कर वह सिद्ध कहता है—

"विष्णुपरिस्थितो विष्णुः विष्णुं खादति विष्णवे,
कथं हससि रे विष्णो सर्वं विष्णुमयं जगत्।"

सूरदासजी इन्हीं भावों पर कहते है—

"जित देखो तित श्याममयी है;
श्याम कुंज, वन, यमुना श्यामा,
श्याम गगन-घन-घटा छई है।
श्रुति को अच्छर श्याम देखियत,
दीप-शिखा पर श्यामतई है;

मैं बौरी की लोगन ही की
श्याम पुतरिया बदल गई है।
इन्द्र-धनुष को रंग श्याम है,
मृग-मद श्याम, काम विजयी है;
नीलकंठ को कंठ श्याम है,
मनो श्यामता बेलि बई है।

कवि के भाव-नेत्र चारो तरफ श्यामको ही प्रत्यक्ष करते हैं। तमाम संसार में वह एक हो श्याम-छवि रमी हुई है। रामायण मे गोस्वामी तुलसीदासजी इस भाव की सु दर व्याख्या-सी कर देते है। जिस कारण से यह इष्ट मूर्ति भक्त को चारो ओर दिखलाई पड़ती है, उस कारण की जड चित्त मे है, जहाँ इष्ट की छाप पड़ जाने पर फिर और कोई रूप नही देख पडता, दूसरे रूपो की सत्ता छिप जाती है।

"चित्रकूट चित चारु, तुलसी सुभग सनेह बन,
सिय-रघुवीर-विहारु, सींचत माली नयन-जल।"

मृत्यु की नश्वरता को दिखलाते हुए कविवर नजीर कहते है—

"जब चलते-चलते रस्ते मे
यह गौन तेरी ढल जावेगी,
यह बधिया तेरी मिट्टी पर
फिर घास न चरने पावेगी।
यह खेप जो तूने लादी है,
सब हिस्सो मे बट जावेगी।
धी, पूत, जमाई, बेटा क्या,
बनजारन पास न आवेगी।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बजारा।
क्या जी पर बोझ उठाता है,

इन गोनो भारी-भारीके।
जब मौत का डेरा आन पडा,
तब दोनों है व्यापारी के।
क्या साज जडाऊ जर-जेवर,
क्या गोटे थान किनारी के,
क्या घोडे, जीन सुनहरी के,
क्या हाथी लाल अमारी के।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बंजारा।
मग़रूर न हो तलवारों पर,
मत भूल भरोसे ढालो के।
सब पट्टा तोड़ के भागेंगे,
मुँह देख अजल के भालो के।
क्या डिब्बे मोती-हीरों के,
क्या ढेर खजाने मालों के;
क्या बक्चे ताश मुशज्जर के,
क्या तख्ते शाल-दुशालो के,
सब ठाट पडा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बंजारा।"

नश्वर संसार का जो चित्र यहाँ विवेक को जाग्रत् करने के लिये नजीर साहब ने खींचा है, उसका प्रभाव हिंदू-कवियों पर पहले ही से बहुत ज्यादा रहा। नश्वरता पर प्रायः यहाँ के सभी कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। भगवान् शंकराचार्य आदि धर्म-प्रचारकों से लेकर आधुनिक कवियों तक में यह भाव यहाँ परिपुष्ट ही मिलता है—

"कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः;

इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विचारम् ।
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी-उठरे-शयनम् ;
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपया पारे पाहि मुरारे ।

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः ।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं
तदपि न मुंचत्याशामर्षम् ।।"

(श्रीशंकराचार्यः)

"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर ।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई ।"

(श्रीजयशंकर 'प्रसाद')

"लक्ष्य अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर,
छोड़ रहे है जग के विक्षत वक्षःस्थल पर;
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे नित घनाकार जगती का अंबर,
मृत्यु तुम्हारा गरल-दंत, कंचुक कल्पातर,

अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुंडल दिङ्-मंडल !
अये दुर्जेय विश्वजित् !
नवाते शत सुरवर नरनाथ,

तुम्हारे इंद्रासन-तल माथ।
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ।
तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित,
उत्पीड़ित संसृति को करते हो पदमर्दित:
नग्न नगर कर भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिरसंचित;
आधि-व्याधि बहुवृष्टि पात उत्पात अमंगल,
वह्नि, बाढ, भूकंप, तुम्हारे विपुल सैन्यदल;
अये निरंकुश पदाघात-से वसुधा टलमल,
हिल-हिल उठता है प्रतिपल पद-दलित धरातल!"

(श्रीसुमित्रानंदन पंत)

नश्वरता को प्रत्यक्ष करा देने पर ज़रा देर के लिये मन में वैराग्य का उदय होता है। फिर वह वैराग्य यदि स्थायी हो, तो मनुष्य संसार की नश्वर वस्तुओं से प्रेम करना छोड़कर एक ऐसी ज्ञान-स्थिति प्राप्त करता है, जिससे उसे यथार्थ शांति मिलती है। जिस तरह हिंदुओं में वैराग्य की यह शिक्षा मिलती है, उसी तरह मुसलमानों में भी। सूफ़ीवाद में तो ज्ञान, वैराग्य और मादकता, तीनों की प्रधानता है। मुसलमानों के दर्शन में तो नहीं; हाँ, कुरान के साथ अद्वैतवाद की सूक्तियाँ ज़रूर मिल जाती हैं। पर कविता में और सूफ़ियाने ढंग की कविता में यहाँ के बड़े-बड़े दर्शन-शास्त्र का तो बिलकुल जोड़ मिल जाता है। खान-पान और रहन-सहन का भेद रहने पर भी जिस विकास की ओर मुसलमान सभ्यता गई है, वह यहाँ से कोई पृथक् सत्ता नहीं। कुरान का असल तत्त्व जो

"ला इलाह इल्लिल्लाह"—

है, वह

"एकमेवाद्वितीयम्"

का अक्षर-अक्षर अनुवाद है। हम यह नहीं कहते कि कुरान की उक्ति अनुवाद के रूप मे आई है; क्योंकि हमे मालूम है, ईश्वर को प्रत्यक्ष करनेवाले महापुरुष एक ही सत्य का प्रचार करते है। और, जिस तरह हिंदुओ के महापुरुषो ने ओत-प्रोत एक ही ज्ञानमय कोष का तत्त्व हासिल किया, उसी तरह मुहम्मद ने भी तपस्या द्वारा उस "अवाङ्-मनसोऽगोचर" सत्य का साक्षात्कार किया। सिंधू और बिंदु की उक्ति से ब्रह्म और जीव की जो बाते भारतीय-साहित्य मे मिलती है, वही मुसलमान-कवियो की कविता मे, दरिया और क़तरे के रूप से आई हैं।

तुमहि मिलत नहिं होय भय, यथा सिंधुगत नीर।"

(तुलसीदास)

"इशरते-क़तरा है दरिया मे फ़ना हो जाना।"

(ग़ालिब)

"यक क़तरए-मैं जब से साक़ी ने पिलाया है;
उस रोज़ से हर कतरा दरिया नज़र आता है।"

खुदनुमाई परकी गई वह गुफ्तगू याद आती है, जो अपनी बाँदी के साथ शायद बेगम नूरजहाँ ने की थी, जब उसका चीनी आईना बाँदी के हाथ से गिरकर फूट गया था, और एकाएक महर्षि वाल्मीकि की तरह बाँदी के मुँह से यह शेर का एक टुकड़ा निकल पड़ा था—

"अज़ क़ज़ा आईनए-चीनी शिकस्त।"
"खूब शुद सामाने खुदबीनी शिकस्त"—

यह मेहरुन्निसा का उत्तर था। तमाम हिंदोस्तान की साम्राज्ञी के हृदय मे भी वैराग्य की यह भावना प्रबल थी—वह शिक्षा जो गोस्वामी तुलसीदास-जैसे महापुरुष ही दे सकते हैं—

"सेवहिं लखन सीयरघुवीरहिं;
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।"

एक तरफ श्रीरामचन्द्र की सेवा लक्ष्मण और सीताजी धर्म-भावना से प्रेरित होकर करते है, जैसे अपने परम इष्ट की सेवा की जाय, दूसरी तरफ महाकवि शिक्षा से भरी हुई उसकी उपमा गे कहते है, जैसे अविवेकी पुरुष अपने शरीर की सेवा करने है—उसे किसी क्षण के लिये भी नश्वर नहीं समझते। यहाँ शरीर ज्ञान मे बधे हुए मनुष्य सदा ही नश्वरता के ग्रास मे पडे रहते हैं, यह भावना भी उद्दीप्त होती है, और आलंकारिक व्यंजना श्री रामचन्द्र की तल्लीन सेवा का बोध भी अच्छी तरह करा देती है—एक ढेले में दो पक्षियों का शिकार हो गया है।

"तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता।"
(ग़ालिब)

यह बहुत ऊँचे दर्जे का प्यार है। सच्चा प्यार भी यही है। लोग इसका अर्थ यह भले ही करें कि निर्जन रहने पर ही प्रिय की याद आती है—दिल के आइने मे उसकी सूरत देख पड़ती है, पर इसका मतलब वह नहीं। यह सासारिक प्रेम नहीं, यह ईश्वर प्रेम है। जब मन बिलकुल निस्संग हो जाता है, किसी भी दूसरे से लगावट नही रहती, तभी उस मन में ईश्वर का ध्यान आता है, वह भगवत्-संग प्राप्त करता है, वह मित्र जिसके लिये कहा है—"राम प्राण के जीवन जी के"—मिलता है, साथ रहता है, इसी क्षण को इष्ट-प्राप्ति का समय कहते हैं, और इसी अवस्था में वह मिलता भी है। कविवर मैथिलीशरण कहते हैं—

"प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं,
जब इस जनाकीर्ण जगती में एकाकी रह जाते हैं।"

ज़ौक के एक शेर में परलोक, यहाँ तक कि अर्थ लगाने पर हिंदुओं के पितृलोक, देवलोक, प्रेतलोक, आदि की सिद्धि भी हो जाती है—

"अब तो घबरा के यह कहते है कि मर जाएँगे ;
मर के भी चैन न पाया, तो किधर जाएँगे।"

(ज़ौक़)

मृत्यु के बाद चैन न पाने की उक्त परोक्ष रीति से उसी प्रेत-योनि को सिद्ध कर रही है, जहाँ जीवो को शाति नही मिलती, एक प्रकार की जलन, क्षोभ, अशांति तथा चचलता बनी रहती है। इसके अर्थ से प्रेतलोक की सिद्धि कोई भले ही न करे, पर इतना तो ज़ाहिर ही है कि मृत्यु के बाद अशाति की चिंता कवि को लगी हुई है। वह इस पर विश्वास भी करता है। दूसरे, महाकवि ग़ालिब को भी ज़ौक़ का यह शेर पसंद आता है। इसके मानो ये हैं कि इस तत्त्व पर वह भी विश्वास करते हैं। बहिश्त और दोज़ख़ तो मुसलमानों के शास्त्र मानते ही हैं, जहाँ हिंदुओं का बिलकुल साम्य है। यह बेचैनी की हालत जो मृत्यु के बाद होती है, और उस मृत्यु के बाद जिसे आत्महत्या कहते हैं—"मर जाएँगे" के अर्थ से असमय मृत्यु या आत्महत्या का ही भाव व्यजित है—बहुत कुछ उसी अवस्था की वर्णना है, जो प्रेतयोनि में होती है। यहाँ हिंदू और मुसलमान मृत्यु के बाद के एक ही विचार रखते हुए देख पड़ते है। यों तो प्रेत या जिन्न मुसलमानों के यहाँ भी कम नही—

"जिन्नों ने वहीं अपना मैखाना बना डाला।"—

और, रात बारह बजे शहर-भर की मिठाई खरीद लेने वाले लखनऊ के जिन्न अब भी देहात में काफी मशहूर हैं; वे आज कल की व्याख्या के अनुसार मुँह ढककर आनेवाले छज्जे पर बैठनेवालियों के यार और आशिक़ भले ही हो, अथवा चाहे लखनऊ की प्राचीन व्याख्या के अनुसार १२ लाख साफ़ करने के बाद रईसो के शोहदा-खाते मे नाम लिखानेवाले हों।

हिंदी मे तो—

"भूत-पिशाच निकट नहिं आये;
महावीर जब नाम सुनावे।"

से लेकर

"साबर-मन्त्र-जाल जिन सिरजा", "प्रेत, पितर गंधर्व;
बंदौ किन्नर, रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व।"

तक, पता नही, इस परलोकवाद की कितनी चर्चा हुई है, और समाज में इस पर कितना दृढ विश्वास है—जब कि ज्ञान की जननी गीता स्वयं कहती है - "पतन्ति पितरो ह्येषा लुप्तपिंडोदकक्रियाः" और केशवदास का प्रेत होना तमाम साहित्यिकों के दिमाग़ मे भरा ही हुआ है, उधर गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी से "बसै तहाँ इक प्रेत पुरानो" जब कि अभी तक नहीं निकाला गया, और उन्हे भगवान् श्रीरामचद्र से मिलने का पता भी बताता है प्रेत!

"जहाँ मे हाली किसी का अपने सिवा भरोसा न कीजिएगा;
यह भेद है अपनी ज़िंदगी का कि इसका चर्चा न कीजिएगा।"

हाली साहब जिस तरह यहाँ हरएक को अपनी ही सत्ता पर ज़ोर देने के लिये कहते है, और इसे ही वह दुनिया में कामयाब होने की कुंजी समझते है, इसी तरह यहाँ के हिंदुओं की भी शिक्षा है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, न मेधया न च बहुना श्रुतेन" में सबसे कठिन कार्य आत्म-प्राप्ति के लिये जिस तरह मनुष्य को अभ्यंतर-बल प्राप्त करने के उपदेश दिए गए हैं, उसी तरह अन्य सफलताओं के लिये भी। यथार्थ बल अपने ही भीतर से प्राप्त होता है, जिससे कुल सिद्धियाँ हासिल होती हैं, यही यहाँ की शिक्षा है। इस प्रकार मन को प्रबल करने के लिये ही कहा है—

"मन के हारे हारिए, मन के जीते जीत;
परब्रह्म को पाइए, मन ही की परतीत।"

यहाँ के साहित्य में अपनी ही आत्मा पर विश्वास रखने के

केवल उपदेश ही नहीं, किंतु जीवनियाँ भी अनेक लिखी हुई हैं। इस कोटि में स्त्री और पुरुष, दोनो को बराबर जगह मिली है। पार्वती तपस्या में दृढ़निष्ठ हैं। वह महादेव को पति-रूप से प्राप्त करना चाहती हैं। उनकी तपस्या की परीक्षा करने, उनके मनोबल को तोलने के इरादे से ऋषि उनसे कहते हैं—"तुम क्यो व्यर्थ ही शिव-जैसे एक पागल के पीछे पडी हो? इससे तो अच्छा है कि विष्णु की कामना करो। वह सुंदर है, और सब तरह से महादेव से श्रेष्ठ हैं।" यह सुनकर पार्वती का उत्तर नम्र होकर भी दृढ होता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहती है। कहती है—

"सत्य-सत्य शिव अशिव-घर, विष्णु सकल-गुण-धाम;
जाको मन रम जाहि सँग, ताहि ताहि सन काम।"

उद्धव को अपने ज्ञान का गर्व है। श्रीकृष्ण उनका यह अहंकार तोडना चाहते हैं। साथ ही एक दूसरे मन का बल भी उन्हे दिखाना चाहते हैं। इस विचार से वह उद्धव को गोपियो के पास अखिल व्यापक निरंजन ब्रह्म का उपदेश करने के लिये भेजते हैं। उद्धव गोपियो के बीच मे व्यापक ब्रह्म की कथा सुनाते हैं, और गोपियाँ बार-बार उनसे श्री कृष्ण का कुशल तथा अन्यान्य संवाद पूछती हैं, बार-बार उद्धव को उनके विषय से अलग कर देती हैं। पर वह भी अपने ज्ञान-हठ पर अड़े रहते हैं। वह भी बार-बार वैराग्य की वाणी के प्रभाव से उनका प्रेम-जन्य मोह दूर कर देना चाहते हैं। पर गोपियो का प्रेम शरीर-प्रेम नहीं था। उसमे कृष्ण की चेतन सत्ता थी, जिससे उनके हृदय का मोहांधकार दूर हो चुका था। वे प्रेम ही की वाणी में जो उत्तर देती हैं, उसका फिर प्रत्युत्तर उन्हे उद्धव से नहीं मिलता—

"ऊधो, मन न होहिं दस-बीस।
एक रह्यो सो गयो स्याम सँग,
काह करब अज, ईस?"

और "राधे-दृग-सलिल-प्रवाह मे सुनौ हो ऊधौ, रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावैगी" आदि सुनकर प्रेम के प्रभाव से उद्धव मौन ही रह जाते हैं। यह यहाँ का मानसिक बल है, अपना अटल विश्वास, जिससे अपने संपूर्ण कार्य सा क हो जाते हैं। यही अँगरेजो का Concentration power (एकाग्रता-शक्ति) है "The real I is real He" अर्थात् यथार्थ मैं और यथार्थ वह (ईश्वर) एक ही है, अतः अपने पर यथार्थ विश्वास और उस पर अकृत्रिम विश्वास एक ही है।

"जन्म कोटि शत रगर हमारी ;
बरौं शंभु, न तु रहौं कुमारी।"—

यह अपनी शक्ति पर विश्वास है और

"नट-मरकट इव सबहिं नचावत ;
राम खगेस, वेद अस गावत।"

यह ईश्वर पर किया गया विश्वास है। यहाँ ईश ही की शक्ति सफल-काम है।

हिंदू और मुसलमानो के सामाजिक आचार-व्यवहार और वेष-भूषण आदि निस्संदेह एक दूसरे से नही मिलते, परंतु यह कोई बहुत बड़ा भेद नहीं। कारण, मनुष्य की जाँच उसकी मनुष्यता और उसके उत्कर्ष से होती है, और वहाँ ये दोनो जातियाँ एक ही पथ की पथिक तथा एक ही लक्ष्य पर पहुँची हुई जान पड़ती है। हिंदू-सभ्यता बहुत पुरानी है और मुसलमान-सभ्यता हिंदुओ के मुकाबले बहुत आधुनिक। यह तो हम दावे के साथ कहेंगे कि जहाँ भी सभ्यता ने अपने उत्कर्ष के प्रति संसार को आकृष्ट करना चाहा है, जहाँ कहीं उसकी सुप्त अपार शक्ति जाग्रत् हुई है, वहीं, किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्ष या प्रकृति की अपर शक्तियों की तरह परोक्ष रीति से, हिंदू सभ्यता के बीज संचालित हो गए हैं। आज संसार मे जितने भी धार्मिक विचार अपना आधिपत्य जमाए हुए हैं, वे सब हिंदुओं के

किए हुए विचारो के अनुवाद से प्रतीत होते हैं। हमारा विचार है कि यह हिंदुओ की ही मानसिक दुर्बलता है, जिसके कारण वे हर तरह से पराधीन हो रहे हैं। यदि वे अपने आपको पहचाने, तो उनके भीतर के भेद-भाव तो दूर हो ही, किंतु ससार मे एक अदभुत साम्य का प्रचार भी हो, जिसकी अब तक संसार के लोग प्रतीक्षा कर रहे है। जहाँ प्रतिद्व द्विता के भाव प्रबल है, वहाँ मानवीय शक्ति भी नही, पशु-शक्ति काम करती है, चाहे कितने ही बडे बडे शब्दो तथा वाक्यो की आवृत्ति वहाँ की जाय। मानवीय प्राथमिक शक्ति का विकास ही कार्य की शक्ति है। धर्म के अनुकूल चलकर शक्ति को विकसित करना, यही शास्त्रीय शिक्षा है। पर आज इसके प्रमाण बहुत ही कम रह गए हैं। पाशविक वृत्तियों की प्रबलता मानवीय वृत्ति को, जिसे वृत्ति कहते है, दबाए हुए है। युग-धर्म ही कुछ ऐसा बन रहा है कि प्रवृत्ति-मूलक बाते अत्यंत रुचिकर मालूम देती हैं, यद्यपि उनसे पतन के सिवा एक इ च भी उत्थान की गु'जाइश नही। यही कारण है कि समाज के विवेक की तुला टूट गई है। बड़े-से-बडे और छोटे-से-छोटे सब मनुष्य, सब सप्रदाय अंधानुसरण को ही सनातन-धर्म या अपना सच्चा मज़हब समझ रहे हैं। उधर विज्ञान के प्रकाश ने वहाँ के मनुष्यो के हृदय से यह विश्वास ही दूर कर दिया है कि ईसा को भजोगे, तो डूबते वक्त पानी मे आप ही ज़मीन बन जायगी। वहाँ नास्तिकता का राज्य है, यहाँ अंधानुकरण का। संसार की अशाति इस तरह कब दूर हो सकती है ? मोटर, रेल, तार, जहाज़, मैक्सिम गन, एरोप्लेन, टारपेडो, मेन आफ् वार और तीस मील की चाँदमारी करनेवाली तोपे, बम, तरह-तरह की विषैली बारूदें, हजारहा मैशीनें, ये सब अभाव ही की आग भडकानेवाले हैं; इनसे कुछ मनुष्यता की प्राप्ति नही होती। योरप मे जो दो-चार मनीषी मनुष्यता के तत्त्व को समझकर उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं, उन्हे वहाँ की गवर्नमेट

से तिरस्कार ही मिलता रहता है। प्रभुता स्वयं अनिष्टकर है, इसलिये विभूतिपाद के आचार्यगण मनुष्यता के दायरे से सदा ही निकाले हुए रहे हैं। मनुष्यता किसी क़ीमत से नही मिलती। वह तो एक प्रकार की शिक्षा है, जिस पर अभ्यास दृढ हो जाने पर मनुष्य मनुष्य कहलाता है। भारत की राष्ट्रोन्नति के लिये जो अनेक प्रकार की चर्चाएँ सुनने मे आती हैं, उनसे प्रतीत होता है कि यहाँ लोगों की आँखो में योरप का ही चश्मा लगा हुआ होता है, और वे विचारे झूठ बोलकर ज़िंदगी की ज़िंदगी पार कर देनेवाले भारतवर्ष के वकील-लीडर यह क्या जानें कि यहाँ की शिक्षा किस रंग की चिड़िया थी? भारतवर्ष मे जो सबसे बड़ी दुर्बलता है, वह शिक्षा की है। हिंदुओं और मुसलमानो मे विरोध के भाव दूर करने के लिये चाहिए कि दोनो को दोनो के उत्कर्ष का पूर्ण रीति से ज्ञान कराया जाय। परस्पर के सामाजिक व्यवहारों में दोनो शरीक हों, दोनो एक दूसरे की सभ्यता को पढ़ें और सीखे। फिर जिस तरह भाषा मे मुसलमानो के चिह्न रह गए हैं, और उन्हे अपना कहते हुए अब किसी भी हिंदू को संकोच नहीं होता, उसी तरह मुसलमानों को भी आगे चलकर एक ही ज्ञान से प्रसूत समझकर अपने ही शरीर का एक अंग कहते हुए हिंदुओं को संकोच न होगा। इसके विना, दृढ़ बंधुत्व के विना दोनो की गुलामी के पाश कट नहीं सकते, ख़ासकर ऐसे समय जब कि फूट डालना शासन का प्रधान सूत्र है।

हिंदुओं की जो मानसिक स्थिति पहले थी, वह मुसलमानों के आक्रमण-काल तक नहीं थी। पंच-देवताओं की उपासना में पड़े हुए हिंदू द्वैतवादी हो रहे थे। यों तो भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति भगवान् बुद्ध से पहले ही बिगड़ गई थी। बुद्ध के आने के बाद कुछ सुधरी, और यही कारण है कि बुद्ध-काल में कला के विस्तार के साथ-ही-साथ भारत की शासन शृंखला भी सुदृढ़ हो गई थी।

भगवान् शंकर के आविर्भाव के पश्चात् भी भारतवर्ष की कुछ अच्छी अवस्था थी। पर देश सब तरह से मानसिक दुर्बल हो रहा था। वह शंकराचार्य द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद की धारणा करने मे समर्थ नही रहा। उसे एक ऐसे धर्म की ज़रूरत पड़ी, जो सरस हो, और गृहस्थो के सामने त्याग का महान् आदर्श न रख उन्हे कोई प्रेम तथा पूजा का मार्ग बतलावे। मनुष्यो के मन के अनुकूल धर्म का भ उद्भव हो जाता है भगवान् रामानुज ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इसमे ईश्वर और संसार, दोनो रहे। अद्वैत को सूक्ष्म छान-बीन नही रही। किंतु रस से भरा हुआ एक दूसरा ही प्रेम-धर्म लोगो के सामने आया। चूँकि साधारण मनुष्य जन्म से ही मूर्ति-प्रेमी हुआ करता है, और संसार के अस्तित्व पर विश्वास रखता है, इसलिये यह विशिष्टाद्वैतवाद उस समय के लोगों को बहुत पसंद आया। भारतवर्ष मे आज भी अधिकाँश मनुष्य इसी संप्रदाय की शाखा-प्रशाखाओ मे शामिल हैं। परंतु मूर्ति स्वयं ससीम होती है, इसलिये उसके उपासक भी, ससीम होने के कारण, भाव तथा क्रिया की भूमि मे छोटे ही होते गए। महाभारत के समय से लेकर कई बार महापुरुषों ने भारतवर्ष को गिरने से रोकने की चेष्टाएँ कीं; पर स्वाभाविक गति मे कोई रुकावट हो नही सकती। जिस हद तक इस देश को गिरकर पहुँचना था, उस अवश्य भावी परिणाम को कौन रोकता? वह गिरता ही गया। उधर दीन-इसलाम की नई रोशनी अद्वैत वाद से भरी हुई फैली। उसका वह नवीन वेग कोई भी देश नही रोक सका। भारत भी जिस मानसिक अवस्था को प्राप्त था, उसके लिये हारना स्वाभाविक ही था। वह हारा। किसी भी वृहत तथा व्यापक वस्तु या धर्म से कोई भी ससीम वस्तु या धर्म हार जाता है। ससीम हो रहने के कारण भारत की शक्ति भी खंडशः हो रही थी। मुसलमानों की संगठित तलवारों की चोट से भारत का स्वाधीन दंभ चूर-चूर हो गया।

हिंदुओं के साथ मुसलमानो का यह प्रथम संबंध हुआ जेता और विजित के भावों से। वे शासन भी करने लगे। उस समय के संगठित मुट्ठी-भर मुसलमान किस तरह आतंक की तरह तमाम भारत-वर्ष मे फैल गए, यह पढ़कर आश्चर्य होता है। उनकी दक्षता, उनकी कार्य-पटुता के प्रभाव से राजपूत-शक्ति ने भी उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जहाँ देखिए, जिस प्रांत मे देखिए, मुसलमानों का ही शासनाधिकार हो गया। पठानो के बाद मुगल आए। ऐयाशी में पड़कर पठान दुर्बल हुए, और उसी ऐयाशी ने मुगल-बादशाहत को बरबाद कर दिया। खैर, मुसलमानो के वे भाव, जो पहले से हिंदुओ के प्रति थे, अब भी ज्यों-के-त्यों ही रह गए, और यह स्वाभाविक भी है। अभी उस दिन तक यह प्रचार किया जाता था कि एक मुसलमान ५० हिंदुओ के लिये काफी है। और, यह सब हिंदुओ की ही कमजोरी है। इस समय कुछ को छोड़कर प्रायः सभी हिंदू क्षुद्रतम सीमा मे बँधे हुए है। यही कारण है कि देश शताब्दियों के लिये पिछड़ा हुआ नजर आ रहा है। मुसलमान भी अब वे मुसलमान नही रहे। एक प्रकार की कट्टरता मूर्खता से मिली हुई रह गई है। इन दोनो जातियो के सुधार के लिये मनुष्यता की शिक्षा आवश्यक है, जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर-भाव धारण करें। तब तक योरप का वर्तमान धर्म अवश्य ही नष्ट होगा। वहाँ विज्ञान की चर्चा से जिस नास्तिकता का उदय हुआ है, उससे सुफल के ही होने की संभावना है। चरम नास्तिकता और चरम आस्तिकता एक ही बात है। शून्य को चाहे कुछ नहीं कह लीजिए या सब कुछ, वह पूर्ण भी है और कुछ भी नही। यही आस्तिक और नास्तिकवाद का रहस्य है। यही कपिल, बुद्ध और नास्तिक दर्शन कहते हैं और यही वेदांत, गीता और पातंजल आदि आस्तिक दर्शन। यही सबसे ऊँची भूमि है। यहीं हिंदू और मुसलमान परस्पर मिलते हैं। योरप

के भौतिक विज्ञानवाद को और एक सीढ़ी चढ़ना है, बस । सब फैसला वही प्रकृति कर देगी, जिसने इतना सब चमत्कार पैदा किया है । फिर ये सब "यथा पूर्वमकल्पयत्" ही रहेंगे । अन्यथा मनुष्य की जीवन-प्रगति रुकेगी। मशीन के पहिए जितना तेज़ चलते है, आदमी की चाल उतनी ही द्रुत बद होती है । इस पर बहुत कुछ लिखा-पढ़ी हो चुकी है, और होती जा रही है । यही कारण है कि महात्माजी का चर्खावाद यहाँ की अपेक्षा योरप के किसानों को अधिक पसंद आया है, और वे अपने जीवन को अन्नवस्त्रोत्पादन के पश्चात् शुभचिंतन मे लगाने का प्रयत्न भी कर रहे हैं । जब तक अनेक प्रकार के वितंडा-वाद भारतवर्ष में चक्कर काट रहे हैं, तब तक यदि हिंदू और मुसलमान अपनी-अपनी यथार्थ प्राचीन शिक्षा को प्राप्त कर दबाने या दबनेवाले अपर भावो को त्याग कर आपस मे मैत्री स्थापित करके एक दूसरे के उत्कर्ष को समझने की चेष्टा करे, तो दोनो के लिये उन्नति का रुका हुआ रास्ता निस्सदेह खुल जायगा ।

———

एक बात

हिंदी की हितैषणा की गाँठ मे गठिए का असर उसके सेवकों के तर दिमाग के कारण बढ़ता ही जा रहा है। भारतीयता का ज्योतिर्मय अर्थ विश्व की तमाम विभूतियों को भास्वर करता रहा, पर हिंदी के हित-चिंतकों के प्रस्तर-हृदय के भीतर, स्रोतस्वती ही के हृदय के रोडे की तरह, आलोक-स्निग्धता कुछ भी न पहुँची। भारत के दृश्य-काव्य मे उन्होंने पाषाण-मृत्तिका, सोना-चाँदी, हीरे-मोती और पेड़-पौधे ही देखे, जैसे वणिकों ने रत्नाकर से जड़-रत्न ही लिए, उसका अपार दर्शन न लिया, वह किस तरह लक्ष्मी और रंभा दोनों—विद्या और अविद्या, परा और अपरा, तृप्ति और तृष्णिका—का पिता है, वे न समझे। जो भावों और रत्नों की खान अदूर-दर्शन है, वह हिंदीवालों की दूरदर्शिता के फेर में अपनी नवीन चहल-पहल खोकर वृद्ध हो गया, वार्द्धक्य की जड़ता मे जकड़कर मृत्यु के पल गिनने लगा, गृहस्थ के गृह की तरह, अर्थ के न रहने पर नवीन आच्छद के सौंदर्य और जीवन से रहित हो।

आकाश सभी पदार्थों या केवल अर्थों को रूप, रेखा, शब्द और अर्थ देता है, क्योंकि अवकाश के भीतर ही सात सन्निविष्ट मिलता है। आकाश नभ है, और प्रभा भी। गोद मे सूर्य को लेकर प्रभा अपने नभपति की प्रतिष्ठा की परिचायिका। यह सब शब्दार्थ सृष्टि यहाँ के समझनेवाले लोग ही सीमा और निःसीम मे भारत है। इसीलिये वे अमर हैं।

"बदलता है रँग आसमाँ कैसे-कैसे" के अनुसार नभ भास्वर में सप्ताश्व बनकर स्वयं ही अनेक रंग है। जो विष संसार को दग्ध करने वाला

और आजकल के विचार से अभारतीय होगा, वह चरित्र हीनता, रोग, शोक या कुछ भी हो, वह शिव के कंठ मे राम-नाम है, नील-कठ आकाश की नीलिमा का तत्त्व समझकर गरलाभरण बन गए है, इसीलिये नील कठ के नाम के द्वारा वह काव्य की दृष्टि से अत्यंत सुंदर हो रहे हैं, सकलंक चंद्र की तरह, गौरी के कपोल तिल के सदृश।

हमारे यहाँ की भाव राशि अँगरेजी की 'put' क्रिया की तरह है, जो अतीत और वर्तमान मे एक रूप है। भविष्य की नवीनता की 'will' से उसे दर्शन-मात्र के लिये विभूति अधिक मिलती है, पर 'will' सर्वथा उसी पर अवलंबित है अन्यथा अचलायत और 'put' अपने निर्विकार चित् से पूर्ववत् स्थितिशील। 'will' अव्यय के अव्ययी भाव का 'put' की व्यापकता के साथ जैसा सहयोग है, ऐसा ही नवीन के साथ प्राचीन का।

ज़रूरत यहाँ के विश्वजनीन भावो के समझने की है। जो भाव विश्व-भर के लिये हैं, वे विश्व भर के लिए हुए हैं। इसलिये व्यक्तिगत छाप उनमे नही लग सकती। एक-एक शब्द इसका प्रमाण है। योरप ने बड़ा इतिहास-संग्रह किया है, पर I, you he आदि कोष के शब्द किसके बनाए हुए हैं, इसका इतिहास नहीं मिलता। हमारे यहाँ इसका दर्शन-मात्र है। प्रत्येक शब्द अनादि है। अर्थात् तमाम विश्व उसकी सृष्टि के लिये उत्तरदायी है, क्योंकि तमाम विश्व अनादि है।

एक शब्द के विकार के लिये भी तमाम संसार उत्तरदायी है। 'प्रसार' शब्द जब 'पसार' बना, तब सब लोग इसके नियामक हैं। मुमकिन है, किसी एक ने लिखा हो, पर सबने या समष्टि ने समर्थन किया। यदि ऐसा न होता, तो 'पसार' का प्रचलन ही न हो पाता। इसलिये "मौनं सम्मतिलक्षणम्" के द्वारा 'पसार' के लिखने वाले के साथ सभी लोगों ने सहयोग किया। अपरंच 'पसार' की र-फला

समष्टि को खटकती थी। इस खटकने के बाद 'प्रसार' लिखा गया। इसलिये 'पसार' पहले ही लिखा जा चुका था, जैसे अर्जुन के मारने के पहले कृष्ण के 'मै' ने सबको मार डाला था, क्योंकि कृष्ण का विशुद्ध, बोधमय 'मैं' था और कौरवो का अज्ञानमय। अज्ञान के तिमिर को बोधमय सूर्य ने नष्ट कर दिया था; रहा था भीतर केवल कृष्ण का मैं, जो विराट् के साथ अब भी संबद्ध है, और अज्ञान-जीर्णता को नाश मे परिणत करता रहता है।

प्रश्न हो सकता है कि 'पसार' के साथ मुसलमानों या अंगरेजो या अपर जातियो का क्या सबध है, जो लिखा गया कि प्रत्येक गति के साथ, प्रत्येक विवर्तन के साथ तमाम संसार संयुक्त है। पहले तो पेट के साथ पीठ की तरह प्रत्येक गति का एक परोक्ष सबंध है; दूसरे, विश्व के जिस सघात के कारण 'प्रसार' की र-फला को पद च्युत होना पडा, वह विजातीय भावनाओं से ही हुआ है, नही तो। प्रसार' प्रसार ही बना रहता, उसे 'पसार' बनने की नौबत ही न आती।

लडने के बाद शाति की इच्छा होती है, और शाति के बाद लडने की। इसी तरह संस्कृत की प्रौढ़ता को प्रहार मिला, जिसका कारण विश्व है, जिसके सामने उसने अपनी प्रौढ़ता प्रदर्शित की। जब अन्य वर्ण-संप्रदाय प्रौढ़ हो चले, तब सस्कृत को प्रहार मिलने लगा। वह बालपन मे बदल गई, सुख-लालसा प्रधान हो गई, ओज खलने लगा, लालित्य की प्यास बढ़ चली, 'आर्य' 'आय्य' हो गए। यह होना इसी तरह विश्वजनीन है, और इसी तरह सब अपर भाव और रूप भी। यों भी एक जगह के साथ दूसरी जगह का अविच्छेद संबंध बना हुआ है।

यही यथार्थ भारतीयता है। विश्व-धर्म, मनुष्य-धर्म या ऐसा ही कुछ किसी भी विशेषण विशेष्य से कहा जाय। यह मानव-धर्म का स्वातंत्र्य हमारे साहित्यिकों के मस्तिष्क में स्मृति तथा नीति की सीमा

में पड़कर अपने मूल-कारण को अमर-बेलि की तरह खो बैठा है। हमारे साहित्यिक इतना तो समझते हैं कि सचाई से स्वतन्त्रता हासिल होगी। स्वर्णलता की ही तरह हमारी संस्कृति चमकीली है, परंतु वे यह छोड़ देते हैं कि उस स्वर्णलता का आश्रय अपावन झाड भी उसके साथ-साथ है। माता के उदर मे, पिता के बाह्य शुक्र के साथ शरीर और मन को जिस तरह पुष्टि मिलती रहती है, कोई संबंध न रहने पर भी नाड़ियों के रक्त-संचार और हृदय की धड़कन तक में पूर्ण संबंध स्थापित है, पार्श्व-वर्तन में कोई असुविधा नहीं होती, और नारायण के जल-शयन का पूरा रूपक—सृष्टि के प्रारंभ-काल का दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी तरह हमारी सभ्यता देश और काल से निरवच्छिन्न रहकर भी चिरविच्छिन्न है।

इसीलिये किसी एक के प्रति प्रतिहार और किसी दूसरे के प्रति प्यार क्षुद्र सीमा-धर्म हो सकता है, महान् मानव-धर्म नहीं। मन के कोलाहलमय महासमुद्र का समुत्सुक तरंगाग्र जो मानव अपने उद्‌गम को समझ लेता है, वह व्यष्टि में रहकर भी समष्टि और परिखा में परिधि पाकर भी पारावार है। देश को इन्हीं मानवों की आवश्यकता रही है, देश को इन्हीं मानवों ने कुछ दिया है। मन का स्वतंत्र रूप देह की सीमा को अतिक्रमण करता है, यही सीमा की क्षुद्रता साबित होती रहती है। हर आदमी परदेश मे रहकर अपने घर की बात सोचता है, पर देह जड़ पाथेय के साथ ही पथ पूरा कर पाएगी। अपनी भौतिक स्वतंत्रता के अर्जन के लिये स्वतंत्र मन से हम अपने ही घर में बंध स्थापित कर उसके इंगितों को समझ सकते हैं। वही हमें साम्राज्ञी भारतीयता अपने कभी पराधीन न होने की शिक्षा देगी। वह सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति, सबसे बड़ी किताब है। सत्य उसी सरस्वती का धर्म-पुत्र है। सत्य स्वतंत्र माता का सदा स्वतंत्र बालक है। उस पर कोई नियंत्रण नहीं। उसके पास एक ही किताब है उसकी माता। वह

लिखी किताब नहीं पढ़ता। जब पढना चाहता है, तब माता डॉट देती है। समझा देती है। कहती है, बाहर तू भटक जायगा, सब मेरी लिखी हुई किताबें हैं, वहाँ न जा। सत्य नहीं जाता, इसीलिये वह जब चाहता है, माता के साथ मिलकर तदात्म हो जाता है।

मनुष्यों का यही सत्य आदर्श है, तभी वे भारत हैं। यहाँ से विकार के प्रति अश्रद्धा नहीं होती। कृष्ण यहीं महामनुष्य, शुकदेव के रास-रस-विहारी महापुरुष हैं।

रवींद्रनाथ हिंदोस्तानियों के ग़रीब डफली-राग का कवियाने ढंग से मज़ाक़ उड़ाते हुए "खचखचखचाकार" लिखकर अपनी श्री-संपन्नता का परिचय दे सकते हैं, पर वह "खचखचखचाकार" का संबंध जातीय स्वर मीरा, कबीर, सूर और तुलसी की पावन लड़ियो मे कितनी निर्मल ज्ञान-धारा बहाता है, यह अगर वह समझते होते, तो अपने अर्थ के साथ काफ़ी वृद्ध होकर "कोकरको" वाले "बाउल के स्वर" पर अंत में गला और कलम न फेरते रहते। शायद बँगला के कवि इस अपने ग़रीब-राग को बँगला की संपत्ति समझकर विश्व की संपत्ति समझते हैं, और पहली को हिंदोस्तानियो की समझकर कर्णकटु विश्व-विरहित! दूसरी बात यह कि जब ग़रीबो को छल या वैभव से शक्तिशाली मुग्ध करता है, तब वे मन-ही-मन कहते हैं कि अगर हम ऐसे होते, तो हम भी तुम्हे ऐसा कर सकते। इसकी ध्वनि कितनी गूढ़, तत्त्व के पर्दे के भीतर होती है! आप किसी को उसके विकास-पथ की सुविधा कर दीजिए, वह धारा ज़रूर बह चलेगी। जब वह अपने पर्वत-पिता के अतल-स्पर्श मे रहती है, तब भी वह निकलने के लिये बार-बार प्रयत्न करती रहती है, और अदृश्य या अल्पदृश्य होने पर भी समुद्र से छोटी नहीं रहती, क्योंकि दृष्टि का सूक्ष्म सूत्र, सूर्य का ताप-तत्त्व या अज्ञान के पत्थर-हृदय के भीतर से शाप के भाप का उसके साथ सहयोग रहता ही है। जहाँ रवींद्रनाथ अपना व्यक्तित्व ब्रह्म-व्यक्तित्व

के साथ एक करते हैं, वहाँ यही सब जातीयता, भिन्नता, संकीर्णताएँ जो उनके देह-संकोच के कारण निकली हैं, निकल-निकलकर दूसरों की तरफ इंगित करती हुई चली जाती हैं। तब पाठकों को कविवर के "कोथा भेसे जाइ दूरे" की याद आ जाती है।

रवींद्रनाथ ब्रह्म को जब सब संपत्ति दे देते हैं, तब सोचते हैं, अब हम निश्चिंत हुए; क्योंकि ग़रीबों की प्रार्थना का बोझ सर से उतर जाता है; तब कुछ मिजाज़ हल्का होता है, और फिर रूप, रस, गंध, स्पर्श में मुक्ति प्राप्त कर संन्यासियों को निरा आदमी समझ, सत् और न्यास के अर्थ से कोई भी तअल्लुक न रख अपनी प्रतिभा के प्रहार से जर्जर करते रहते हैं ! जब ऐसे, सब राहों से गुज़रकर ब्रह्म को प्राप्त करने वाले, महाकवि को उनकी ज़मीदारी के लोग घेरकर कहते हैं— "पिताजी, हम लोग तो 'अमृतस्य पुत्राः' हैं, भूखों मरते हैं, कुछ खाने को दो।" तब "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" के अर्थ में नराकार रवि बाबू कहते हैं, मैंने तो लिख दिया है—"यार यतो आछे, सेइ चाय भूरि-भूरि" (जिसके पास जितना है, वही उतना अधिक चाहता है) !!!

मैं कहता हूँ, हे देश, तुम धन्य हो, संन्यासी का अर्थ तुम्हीं समझे, तुम्हारा पुरस्कार वही अर्थ है। तुलसी विधर्मी (शब्दार्थ पर ज़ोर) बादशाह (भ्रम बादशाह के भाव पर) के पास नहीं गए, राम के पास गए, जो पिता की मुक्ति के लिये वन गए, जिन्होंने पत्नी की मुक्ति के लिये राक्षस कुल का नाश किया, प्रजा-रंजन के लिये आसन्नप्रसवा प्रियतमा का परित्याग किया। रवींद्रनाथ संसार के एक महामनीषी, कदाचित् सबसे अधिक सम्मान-प्राप्त मनुष्य हैं। तुलसी महाकठिन होकर भी घर-घर अत्यंत सरल महाकवि हैं, रवींद्रनाथ सदा कोमल-कठिन, विद्वानों के आश्चर्य के विषय, उद्ग्रीव कर रखने वाले महाकवि।

महामनीषा जब किसी व्यक्ति-विशेष के भीतर जाग्रत होती है, तब उसके अनेक कारण जागरण के उपादान के रूप उपस्थित करते हैं। उन्हीं से सीमा अछोर असीम में स्थिति पाती है, और प्रकट शक्ति अप्रकट के वर्ण-गंध से हवा के हिल्लोलों पर काँपते हुए कल्पना के कमल को चूमती रहती है। उसको एक-एक दल विकसित हो सहस्रदल कर देते हैं, इसी तरह की मुक्ति मनुष्य की मुक्ति है।

पर जब किसी दूसरे ही तड़ाग के प्रति खिले हुए कमला को देख कर मनुष्य धावमान होता रहता है, तब भीतर की भुजग-शयना आँखें मूँद लेती हैं। कारण, वह अपने से अधिक सुन्दर किसी दूसरी को नहीं मानती, तब मनुष्य मोहाँध कहलाता है। हिंदी की पारिपार्श्विक शक्तियों का स्फुट रूप कभी हिंदी की पूर्णता का परिचित विकास नहीं बन सकता। मैंने अनेक बार लिखा है, कार्लाइल और रस्किन, शेली या रवींद्रनाथ हिंदी के लिये गौरव की वस्तु नहीं बन सकते। उनकी अनुवादित भावनाएँ दूसरी जगह के खिले हुए फूलों को लाते-लाते मुरझाने की तरह, हिंदी में निष्प्रभ हैं। विकास अपने ही भीतर का विकास है, और वही विश्व-विकास है। किसी-किसी साहित्यिक ने देश के ठक्कुरों को छोड़कर विदेश के कुक्कुरों की पूँछ बुरी तरह पकड़ी है। पर पूँछ जिसकी है, वह उसी के साथ रहती है, यह भूल गए। बदले में दंश-क्षत लेकर स्वदेश लौटे। बात यह कि पेट में जब तक दीनता पिल्ले कूँ-कूँ करते रहेंगे, मनुष्य को अपनी पहचान अपने आप न होगी, वह किसी ऊँची बात का अर्थ नहीं समझ सकता।

पंतजी और पल्लव

गत वर्ष, वसत के पुष्प-पत्र के अंतिम ऐश्वर्य-काल मे, मित्रवर हिंदी के कोमल किशोर कवि श्रीयुत् सुमित्रानंदन पत के 'पल्लव' को मनोहर विकसित देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई थी। हिंदी के झंखाड़ मे 'पल्लव' का फूटकर निकलना स्वाभाविक हर्ष का कारण है भी।

उस समय जब 'पल्लव' प्रेस की गैलियों की सघन प्रलब डालियो के भीतर Projection of Nature का Problem solve कर रहा था, पतजी के पत्र से प्रेस के कृष्णाकृति विशाल-वपु 'कलौ भीम-भयंकराः' भूतों के निष्करुण-पीड़न, विश्लेषण-पेषण, धर्षण-घर्षण आदि से किए गए अनर्गल अत्याचारो की कल्पना मैंने कर ली थी, तथा शीघ्र ही 'पल्लव' को यांत्रिक यंत्रणा से मुक्ति देने के लिये मन-ही-मन प्रार्थना भी परमात्मा से यथेष्ट की थी। परंतु कुछ महीनो के बाद 'पल्लव' के संबंध मे विचार करते हुए परमात्मा की निर्दयता से मुझे विचलित हो जाना पड़ा। उनके प्रति जो क्षण-मात्र का विश्वास मैंने किया था, वह क्षण-मात्र मे उठ भी गया; कारण, तब तक प्रसूत 'पल्लव' पंतजी द्वारा प्रेरित होकर मुझे प्राप्त न हुआ था। जिस समय परमात्मा से मेरा असहयोग चल रहा था, मेरे एक मित्र ने आकर कहा, पंडितजी, 'पल्लव' तो प्रकाशित हो गया, कल मैं एक प्रति खरीदकर आपको दूँगा। अवश्य उस समय पंतजी की मित्रता की बानगी, पल्लव की एक प्रति उनसे न मिलने के कारण, उन्हें मैं 'यन्न व्येति तदव्ययम्' ही कर रहा था। दूसरे दिन मित्र ने 'पल्लवं' की एक प्रति ख़रीदकर मुझे दी। आलस्यमयी भावनाओं का जाल समेटकर केंद्रीकृत स्थिर बुद्धि से मैं उसे पढ़ने लगा। उसके 'विज्ञापन' तथा 'प्रवेश'-भाग में पंतजी की सार्वभौमिकता के गज

से कविता-कामिनी का शयन-जीर्ण प्राचीन कंथा नपा हुआ तथा उनकी 'प्रतिभा के बछड़े' के हुत्थे से कवि-समुदाय को पलायन-पंथा पर श्वासावरुद्ध भागता हुआ देखकर बड़ा आनंद आया, जैसे क्षण-मात्र मे किसी ने 'पुंगव' को 'पोगा' कर दिया। दूसरे, कवि को ही टीकाकार के आसन पर देखकर मुझे विश्वास हो गया कि आजकल की दवाओ के विज्ञापक वस्तु-प्रसिद्धि के कौशल-ज्ञान से बिलकुल ही कोरे हैं। एक बार साद्यंत पढकर मैं अपने पूर्व भावों पर विचार करने लगा। जब एक दिन 'पल्लव' के लिये निश्छल सहृदयता का स्रोत हृदय के उभय कूलों को प्लावित कर बहा था, उस समय अवश्य पल्लव के पल्लव मे मृत अतीत के साहित्य-महारथियों को डुबाने की पंतजी की चेष्टा पर कभी मुझे विचार करने का अवसर नहीं मिला, न मैं इस तरह का विचार कर सकता था। इस तरह की चेष्टा यदि सत्य की दृष्टि से निष्पाप सिद्ध होती, तो विशेष कुछ लिखने या कहने का अवसर न मिलता, उनके पुष्ट प्रमाण उस सत्य की रक्षा करते। केवल पद-समता के कारण मंडूक की तरह साँस फुलाकर हस्तिकाय कहलाने की चेष्टा पंतजी को न करनी थी। मंडूक की तरह पतजी पद-लघुता और पद-गुरुता के ज्ञान से विवर्जित नहीं। 'पल्लव' की छाया में जो मुझे भी ताप से शीतल करने की पंतजी ने सहृदयता दिखलाई है, और अपने इस उपकार का कहीं उल्लेख भी अपने प्रेरित पत्र में नहीं आने दिया, उस समय मुझे मालूम न था कि इसके लिये कभी छापे के अक्षरों में धन्यवाद देने की मुझे आवश्यकता पड़ेगी। 'पल्लव' के 'प्रवेश' भाग में कविता, व्रजभाषा, खड़ी बोली, अतीत के कवि, कवित्त, स्वच्छंद छंद, बंगला की कविता, निराला के छंद, शब्दों के रूप-राग, स्वर आदि जिन अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की हैसियत से हिंदी के दरिद्र भाँडार में लाने की पंतजी ने चेष्टा की है, उनकी अलग-अलग समालोचना

करने के पहले मैं एक वह विषय उठा रहा हूँ, जिसकी कहीं चर्चा भी 'प्रवेश' के ५४ पृष्ठों में उन्होंने नहीं की।

इस विषय का उन्हीं से घनिष्ट संबंध है। अपनी कविता की कारीगरी की व्याख्या तो उन्होंने येन-केन-प्रकारेण अच्छी ही की है, परन्तु इस कारीगरी का साँचा उन्हे कहाँ मिला, किस तरह वह अपने लिये इतने अच्छे कवि हो गए; कविता पर वह राजनीति-क्षेत्र के वर्तमान नेताओं की तरह कोई जन्मसिद्ध अधिकार रखते हैं या नहीं, इस तरह के आवश्यक विषयों को उन्होंने प्रच्छन्न ही छोड़ रक्खा है। पहले इन अव्यक्त विषयो पर ही मैं प्रकाश डालने की चेष्टा करूंगा! पंतजी की कविता-कामिनी के लाड़ले भाव-त्रिशंकु को साहित्य के नभमडल में गति रहित निराधार ही छोड़ रखना अनुचित सा प्रतीत हो रहा है।

महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। वह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिये अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिये उसे 'तत्सत्' कहा। वह आजकल की विश्व-भावना, विश्व-मैत्री आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच से बाहर है, जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नहीं कराना चाहता, इस तरह उसमे जड़त्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशमान् है—बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना; कर बिनु कर्म करै विधि नाना—आदि-आदि से कर्ता भी वही है, जड़ में कर्म करने की शक्ति कहाँ? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शास्त्रकारो ने जड़ कहा है, क्योंकि वे पंचभूतो के जड़पिंड का आश्रय लिये हुए हैं, और मृत्यु होने पर कारण-शरीर मे तन्मय रहते हैं—इन्हे लिंग-ज्ञान भी है—इस तरह जड़त्व-वर्जित न होने के कारण इन्हे भी, ब्रह्म से बहिर्गत कर, जड़ कहा है, यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ही ये क्रिया-शील होते हैं। कुछ हो, ये सब यंत्र ही हैं, कर्ता वही है, और उसके कर्तृत्व का एकाधिकार समझकर ही उसे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' कहा है।

इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता, जड शरीरवाले कवि की आत्मा दिखाई पड़ती है। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस तरह होगी—जैसे बालक पंतजी मे कविता करने की शक्ति न थी, शक्ति का विकास हो रहा था, न मन मे सोचने की शक्ति थी, न अंगों में संचालन-क्रिया की, धीरे-धीरे, शक्ति के विकास के साथ ही साथ, जिस जाति और वंश मे वह पैदा हुए—उनके संस्कारों को लिये हुये वह बढ़ने लगे, अपने व्यक्तित्व पर ज़ोर देकर बड़े होने लगे। उन्हे अपनी रुचि का अनुभव हुआ, इस तरह चेतन और जड़ का मिश्रित प्रवाह उनके भीतर से अपनी सत्ता को संसार की अनेक सत्ताओं से विश्लिष्ट कर बहने लगा। एक दिन उन्हें मालूम हुआ, उनकी रुचि कविता पर अधिक है। यहाँ इस रुचि को पकड़िए, यह जहाँ से आई है वह ब्रह्म है जहाँ अब उनकी बाह्य शिक्षा ठहरेगी—जिस तरह से वह भविष्य में कवि होंगे; वह केंद्र भी ब्रह्म ही है; जीवात्मा का संयोग लिये हुए। इस तरह भारतीयों ने ब्रह्म को ही कवि स्वीकार किया है। यह रुचि या इच्छा क्यों पैदा होती है, इसका कारण अभी तक नहीं बतलाया जा सका, यहाँ भारतीय शास्त्र मौन है, और है भी यही यथार्थ उत्तर क्योंकि जब एक के सिवा दूसरा है ही नहीं तब उस एक की रुचि का कारण कौन बतलाए, इसलिये ही कहा है, नमक का पुतला समुद्र की था लेने के लिये जाकर गल गया, खबर देने के लिये न लौटा।

अस्तु। इस तरह पंतजी की आत्मा में कवि होने की—सृष्टि की रुचि का कारण नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु रुचि हुई अवश्य उस ब्रह्मरूपी पंतजी की अनादि सत्ता में और कविता की कारीगरी, अक्षरों, शब्दों और भावों के चित्रों को ब्रह्म की शक्ति, माया धारण करने लगी, प्रकृति में अनेक प्रकार की छायाएँ पड़ने लगीं। स्मृतियाँ यही हैं अनेक वस्तुओं की, अनेक भावों की। जब की ही स्मृति होती है इन स्मृतियों को जिस तरह पहले प्रकृति धारण करती है, उसी तरह

फिर निकालती भी है। बच्चे को 'क' सिखाइये, जब लिखकर 'क' के चित्र की धारणा वह कर लेगा, प्रकृति में 'क' की छाया पड़ जायगी, स्मृति दुरुस्त हो जायगी, तभी वह आप-से-आप 'क' लिख सकेगा।

पंतजी के पल्लव में इतनी ही कमी है। उन्होने अपनी शिक्षा पर पर्दा डाला है। किस तरह, कहाँ-कहाँ से, छाया-चित्रों को उनकी प्रकृति ने ग्रहण किया है, उन्होने नहीं लिखा। यह शायद इसलिये कि इससे महत्ता घट जायगी, लोग समादर कम करेगे। दूसरो की आखो मे धूल झोंककर, दूसरो को दबाकर बड़े होने की आदत पश्चिम की ही शिक्षा से मिलती है, यहाँ तो पहले ही बाबा आदम को बात सुझाकर शिष्य को सत्य ब्रह्म का यंत्र बना देते हैं, उसके अहंकार की क्षुद्र सीमा को तोड़ कर उसमे पूर्णत्व भर देते हैं, उसे यंत्र बनाकर कर्ता और शिष्य बनाकर गुरु कर देते है, जड़त्व लेकर चेतना और ममत्व लेकर प्रेम देते हैं। वह अंध योरप की तरह नही होता, लक्ष्य-भ्रष्ट ग्रह की तरह उसकी गति अनियंत्रित नही होती।

यद्यपि अपनी शिक्षा का हाल पंतजी ने नही लिखा, छिपा रक्खा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नहीं दे सके—

"गंध मुग्ध हो अंध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार"
—पंतजी

"तोमार मदिर गंध अंध वायु बहे चारिभिते"
—रवींद्रनाथ

"...............अतल के
बतलातीं जो भेद अपार"
—पंतजी

"अतल रहस्य येन चाय बलिबारे"
—रवींद्रनाथ

"नीरव-घोष-भरे शंखों में"

—पंतजी

"नीरव सुरेर शख बाजे"

—रवीद्रनाथ

"मेरे आँसू गूँथ"

—पंतजी

"गेंथेछि अश्रुमालिका"

—रवींद्रनाथ

"शस्यशून्य वसुधा का अंचल"

—पंतजी

"शस्यशीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल"

—रवींद्रनाथ

"शस्यशीर्षराशि धरार अंचलतल भरि"

—रवींद्रनाथ

"विपुल-वासना-विकच विश्व का मानस शतदल"

—पंतजी

"........विकसित विश्व वासनार
अरविंद........................"

—रवींद्रनाथ

"आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा इंगित पर करता नर्तन।"

—पंतजी

"तरंगित महासिंधु मंत्रशांत भुजंगेर मत
पड़ेछिल पदप्राते उच्छ्वसित फणा लक्ष शंत
करि अवनत"

—रवींद्रनाथ

"गाओ, गाओ, विहग बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल-गान"

—पंतजी

Then, sing ye birds; sing, sing a joyous sing.
Wordsworth.

उदाहरण के लिये इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। कहीं-कहीं जो थोड़ा सा रूपांतर पंतजी ने किया है, वह केवल अपने छंद की सुविधा के लिये। पंतजी चौर्य-कला में निपुण हैं। वह कभी एक पंक्ति से अधिक का लोभ नहीं करते। एक पंक्ति किसी एक कविता से ली, दूसरी किसी दूसरी कविता से, तीसरी मे कुछ अपना हिस्सा मिलाया, चौथी में तुक मिलाने के लिये वैसा ही कुछ गढ़कर बैठा दिया। इस तरह की सफाई के पकड़ने मे समालोचकों को बड़ी दिक्कत होती है। उधर कवि को अपनी मौलिकता की विज्ञापनबाजी करने में कोई भय भी नहीं रहता। रवींद्रनाथ की 'उर्वशी' कविता के चार उदाहरण मैंने उद्धृत किए हैं, जो नंबर १, ५, ६, और ७ मे आए है। उनमे पहला और पाँचवाँ उदाहरण पंतजी की 'अनंग' कविता मे है और छठा, सातवाँ उदाहरण उनकी 'परिवर्तन' कविता मे!

दूसरे के भाव लेकर प्रायः सब कवियों ने कविताएँ लिखी है। परन्तु वहाँ हर एक कवि ने दूसरे के भाव पर विजय प्राप्त करने की, उससे बढ़कर अपना कोई विशेष चमत्कार दिखलाने की, चेष्टा की है। पंतजी मे यह बात बहुत कम है। कहीं-कहीं तो दूसरे के भावों को बदल कर, उसमे कुछ अपना हिस्सा मिलाकर चमत्कार दिखलाने में इन्हे अच्छी सफलता हुई है, परंतु अधिकाँश स्थलों मे सुंदर-सुंदर भावों को इन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल

इसलिये कि यह भावों के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौंदर्य पर।

एक उदाहरण लीजिए—

"आपन रूपेर राशे
आपनि लुकाए हासे"

—रवींद्रनाथ

"रूप का राशि राशि वह रास
दृगों को यमुना श्याम"

—पंतजी

पंतजी की प्रथम पंक्ति रवींद्रनाथ की ही पंक्ति से ली गई जान पड़ती है, परंतु केवल शब्द-साम्य ही वह अपना सके हैं, भाव-सौंदर्य की छाया भी नहीं छू सके। रवींद्रनाथ की दोनों पंक्तियाँ परस्पर संबद्ध हैं, पंतजी की दोनो पंक्तियाँ एक दूसरे से अलग। यह दोष पंतजी की तमाम कविताओं में है, और यह केवल इसलिये कि वह पंक्ति-चोर हैं, भाव-भंडार के लूटने वाले डाकू नहीं। छकने के लिये एक चुल्लू से ज्यादा नहीं चाहते, शायद हज्म न कर सकने का खौफ़ करते हैं, रवींद्रनाथ की पंक्तियों का भाव—"अपने रूप की राशि में आप छिपकर हँसती है—" इन पंक्तियों में सुंदरी नायिका का कितना सरस भाव है! अर्थ से आदि रस का निष्कलुष परम सुंदर चित्र आँखों के सामने आता है। उधर पंतजी की "रूप का राशि राशि वह रास—" पंक्ति कुछ शब्दों के कलरव के सिवा और कोई अर्थ-पुष्ट मनोहर चित्र सामने नहीं रखती। यदि हम यह कल्पना करें कि अनेक रूपवती गोपिकाएँ कृष्ण के साथ रास में रूप की सुधा पान कर रही हैं, तो ऐसी कल्पना हम क्यों करें? उनकी पंक्ति में

सो इतनी गुंजायश ही नहीं है। और थोड़ी देर के लिये यदि इस तरह की कोई कल्पना कर भी ली जाय तो दूसरी पक्ति का अर्थ इसका विरोधी खड़ा हो जाता है—"दृगों की यमुना श्याम" इसमें दुःख है, जो 'रूप के रास" से वैर करने लगा है। यदि दृगो को ही यमुना मान लें तो भी अर्थ-सिद्धि नहीं होती क्योंकि दृगों के भीतर से तो बाहर रुप-राशि देखी जा सकती है, पर यमुना के भीतर से कृष्ण-गोपियों की रूप राशि न देखी गई थी। शब्दों के सार्थक सगठन से जो भाव तैयार होता है उसे भी शब्द-चित्र की तरह दोष-रहित होना चाहिए।

एक उदाहरण और—

"नवोढ़ा बाल लहर, अचानक उपकूलोंके,
प्रसूनो के ढिग रुककर, सरकती है सत्वर।"

—पंतजी

पल्लव के प्रवेश में हम लोगों के समझने के लिये पंतजी ने अपनी इन पंक्तियो की व्याख्या भी कर दी है। मेरी समझ में यह भाव पंतजी का नहीं, यह भी रवींद्रनाथ ही का है। पहले की तरह कुछ परिवर्तन करके इसकी भी पंतजी ने वैसी ही हत्या की है—

'श्यामल आमार दुइटी कूल,
माझे माझे ताहे फूटिबे फुल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाए जाबे।"

— रवींद्रनाथ

कितने सुंदर भाव की हत्या की गई है! पतजी ने लिया है इन्हीं इतनी पक्तियो का भाव, परतु रवींद्रनाथ की सौंदर्य की

अप्सरा कुछ और नवीन नृत्य दिखलाती है, अभी पूर्वोक्त पद्य अधूरा है। वह अंतिम अंश इस प्रकार है—

"शरम-विमला कुसुम-रमणी
फिरावे आनन शिहरि अमनि,
आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जावे,
भेसे गिए शेषे काँदिवे हाय,
किनारा कोथाय पावे !"

—रवींद्रनाथ

पंतजी की पंक्तियों का अर्थ बिलकुल साफ़ है, यहाँ तक कि पद्य की लड़ियों को बराबर कर लीजिए, गद्य बन जायगा, कहीं परिवर्तन करने की जरुरत न होगी। पंतजी की नवोढ़ा बाल लहर के अचानक उपकूलों के ढिग रुककर सरकने मे कोई विशेष भाव सौंदर्य मुझे नहीं मिला, परंतु जहाँ से यह भाव लिया गया है, रवींद्रनाथ की उन पंक्तियों मे अवश्य सौंदर्य की उभय-कूल-प्लाविनी सरिता बह रही है। रवींद्रनाथ की प्रथम चार पंक्तियों का अर्थ—

"मेरे दोनो श्यामल कूलों मे जगह-जगह पुष्प विकसित होंगे, और क्रीड़ा के छल से लहरियाँ पास आ अचानक चूम-कर भग जायँगी।"

एक तो पंतजी के छंद के छोटे-से घेरे में ये कुल भाव आ ही नहीं सके, दूसरे, मौलिक प्रतिभा के प्रदर्शन और छंद की रक्षा के लिये कुछ शब्दों को विवश होकर उन्होंने बदल दिया है, जैसे रवींद्रनाथ की लहर फूल को अचानक चूमकर भागती है, और पंतजी की लहर अचानक प्रसूनों के ढिग रुककर सत्वर सरकती है। अवश्य ही रवींद्रनाथ के 'पलाए जाबे' का शब्द-चित्र पंतजी ने 'सत्वर सरकती' से प्रकट किया है, 'सत्वर' शब्द के बढ़ने पर भी पंतजी की लहर

'मचाए जावे' का सुल चंचल सौंदर्य नहीं पा सकी। 'सरकती' के 'सर' अंश से लहर के चलने का आभास मिलता है, परंतु अंतिम 'कती' अंश उसके कुछ बढने के पश्चात् उसे पकड़कर रोक लेता है, जिससे Additional (संयुक्त) 'सत्वर' भी उसे उसके स्थान से हिला नहीं सकता, बल्कि खुद ही कुछ दूर बढ़ता चला जाता है। यहाँ के शब्द-चित्र से हास्य-रस की अवतारणा हुई है, जैसे 'सरकती' से लहर कुछ चलकर रुक गई हो, और सत्वर उसे घसीटने की चेष्टा कर (हाथ-सबब) छूट जाने के कारण, खुद ही कुछ दूर पर रपटता हुआ ढेर हो गया हो। दूसरे, 'सरकने' का मुहावरा भी बहुत दूर तक चलने का नहीं, 'कुछ हटना, फिर स्थिति' जोंक की चाल की तरह है। रवींद्रनाथ अपनी लहर के आने का कारण बतलाते हैं 'खेला-छले', और इससे सरल-सौंदर्य शिशु के हास्य की तरह प्रदीप्त हो उठता है। पंतजी ने अपनी लहर के आने का कोई कारण नहीं बतलाया, शायद छंद के छोटे-से कमरे में इतने शब्दों को जगह नहीं मिल सकी। रवींद्रनाथ के छंद में जो सुखद प्रवाह मिलता है, पढ़ने में जिस तरह के आराम की अनुभूति होती है, ये बातें पन्तजी के छंद में नहीं। रवींद्रनाथ के शब्दों में कर्कशता नहीं, पंतजी के शब्द छंद की जीर्ण शाखा के सूखे हुए पत्ते हो रहे हैं।

दूसरे, संपूर्ण भाव को न अपनाने के कारण, सौंदर्य के सिंधु को ही पंतजी ने छोड़ दिया है। वास्तव में लोकोत्तरानंद रवींद्रनाथ की पूर्वोक्त पंक्तियों के बाद मिलता है। पीछे इन पंक्तियों का भी उद्धरण दिया जा चुका है।

प्रकृति की एक साधारण-सी बात पर कवि की कल्पना में कितनी सुकुमारता आ सकती है, रवींद्रनाथ की पंक्तियों से बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल रहा है। "नदी की लहर तट की पुष्पित डाल के पुष्प को

स्पर्श कर बहती चली जाती है।" इस पर कवि लहर की सजीवता, उसके आने का कारण क्रीड़ाच्छल, स्पर्श से पुष्प को चूमना और स्वभाव में लहर की प्रकृतिसिद्ध पलायन-चंचलता दिखलाकर प्राकृतिक सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। और, इसके पश्चात्, फूल की तरुणी कामिनी का हाल लिखकर आदिरस को वेदांत के लोकोत्तरानंद में ले जाकर परिसमाप्त करता है। बाद के अंश का प्राकृतिक सत्य यह है—"लहर के छू जाने पर डाली और फूल हिलते हैं, फिर कली खुलकर नदी में गिर जाती है।" पहले कहा जा चुका है कि फूल को चूमकर लहर भग गई। वहाँ वह पुष्प पुरुष-पुष्प था। पुरुष-पुष्प को चंचला नायिका के चूमकर भग जाने के पश्चात् दूसरी कली को, जो चूमी न गई थी, कवि फूल की तरुणी कामिनी कल्पना कर उसकी लज्जा, कंपन, स्खलन और बहकर असीम में मिलने के अंकन-सौंदर्य से कविता में स्वर्गीय विभूति भर देता है।

"शरम-विमला कुसुम-रमणी"

"शर्म से कुसुम-कामिनी व्याकुल है", इसलिये कि अभिसारिका उसके प्रेमी को चूमकर चली जा रही है—

"फिराबे आनन शिहरि अमनि"

'शिहरि' = काँपकर (यह कंपन प्राकृतिक सत्य से, लहर के छू जाने पर डाली के साथ फूल के काँप उठने से लिया गया है) तत्काल वह मुँह फेर लेगी। (प्रेमिका का मान, लज्जा, अपने नायक से उदासीनता आदि, मुख फेर लेने के साथ, प्रकट है। उधर डाल के हिलने, हवा के लगने से, कली का एक ओर से दूसरी ओर झुक जाना प्राकृतिक सत्य है, जिस पर यह सार्थक कल्पना का प्रवाह बह रहा है।)—

"आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाबे।"

"अंत में वह आवेश से शिथिल हो खुलकर गिर जायगी।" (वृक्ष के हिलने से कली का वृंत से च्युत होना प्राकृतिक सत्य है, इसे कल्पना का रूप देकर कवि कहता है, वह पुष्प की तरुणी भार्या आवेश से—भावातिरेक से शिथिल होकर नदी के ऊपर, वक्ष में, गिर जायगी।)—

"भेसे गिए शेषे काँदिबे हाय,
किनारा कोथाय पावे!"

"हाय! वह बहती हुई रोएगी, क्या कहीं उसे किनारा प्राप्त होगा?"

'हाय' और 'कोथाय' के बीच, उत्थान और पतन के स्वर-हिलोर में बहती हुई उस कुसुम-कामिनी को जैसे वास्तव में कहीं किनारा न मिल रहा हो। कामिनी को अकूल में बहाकर कवि अकूलता के साथ-साथ सीमा-रहित आनंद में पाठकों को भी मग्न कर देता है।]

यहाँ एक बात और। रवींद्रनाथ की इन अंतिम पंक्तियों के 'शिहरि' शब्द पर ध्यान रखकर पंतजी की भी उद्धृत उन चार पंक्तियों के बाद का अंश देखिए—

"अकेली-आकुलता-सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश-गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!"

रवींद्रनाथ की कविता में भाव की लड़ी टूटती नहीं, उनकी कुसुम-कामिनी के सिहरने का कारण आगे बतलाया जा चुका है, परंतु यहाँ पंतजी का ही कृश-गात सिहर उठता है। रवींद्रनाथ की कुसुम-कामिनी असहाय, निस्सीम में बह जाती है, और पंतजी के पैर ठहर जाते हैं! पता नहीं, नवोढ़ा बाल लहर से रुककर सरकने से

पतजी को इतना कष्ट क्यों होता है । शायद यहाँ भी पाठकों को अपनी तरफ़ से कुछ नई कल्पना करनी पड़े, जैसे लहर का सरकना देखकर कवि को अपनी प्रेयसी की याद आई, मिलना असंभव जान पड़ा, विरह-कृश शरीर सिहर उठा, पैर रुक गए । सौंदर्य के नंदन वसत में निर्गंध पुष्प ही पतजी के हाथ लगे । इस विषय पर बहुत ज्यादा लिखकर प्रसंग से अकारण अलग हो जाना है । पंतजी का एक उदाहरण और—

"सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार"

—पतजी

"गगन गघन गगन गरजे"

डी० एल्० राय

'तमसाकार' और 'भीम' ये ही दो शब्द पतजी की पंक्तियों में अधिक हैं, कारण स्पष्ट है, छंद की पूर्ति । तारीफ़ तो यह कि यहाँ, इस भाव में, गुरु और शिष्य दोनो ही प्राकृतिक सत्य से अलग हो रहे हैं, दोनो ही के 'आकाश' गरजते हैं, मेघ गौण हो गया है । परंतु सत्य-चित्र देखिए —मेघ ही गरजते हैं—

"घन घमंड गरजत नभ घोरा"

—तुलसीदास

"गुरु गुरु मेघ गुमरि गुमरि गरजे गगने गगने"

—रवींद्रनाथ

पंतजी की—

"अपने ही अश्रु-जल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है ।"
"जैसे इसकी क्रीड़ाप्रियता अपने ही परदों में गल बजा रही हो ।"
"स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके-से लगते हैं ।"
"अपनी ही कंपन में लीन ।"
"अपनी ही छवि से विस्मित हो जगती के अपलकलोचन ।"

"चारु नभचरी-सी वय-हीन अपनी ही मृदु-छवि में लीन" आदि।

इस तरह की 'अपनी ही' पर जोर देकर सौंदर्य की अभिव्यक्ति पर इतरानेवाली पंक्तियाँ भी मौलिकता की दीप-मालिका में उधार के तेल की रोशनी से प्रदीप्त हो रही हैं—'अपने ही' या 'अपनी ही' के प्रवर्तक भी रवींद्रनाथ ही हैं, जिन्होंने इसे अँगरेजी का प्रकाशन-ढंग देखकर ग्रहण किया जान पड़ता है। रवींद्रनाथ के उदाहरण—

"आपनाते आपनि विजन,"

"आपन जगते आपनि आछिस एकटी रोगेर मन,"

"आधार लाइया हताश होइया आपने आपनि मिशे,"

"मलिन अपना पाने,"

"आपनार स्नेहे कातर बचन कहिस आपन काने," आदि-आदि।

पंतजी की कविता में पंखों की फड़क प्रायः सुनाई पड़ती है। जैसे—

"अपने छाया के पंखों में,"

"फड़का अपार पारद के पर"

"पंख फड़काना नहीं थे जानते," आदि।

अँगरेजी-साहित्य से इस भाव की भी आमदनी हुई है। बंगाल के कवि इसे अनेक तरह से प्रकट कर चुके हैं—

"आयरे बसंत, ओ तोर किरण माखा पाखा तुले"

—डी० एल्० राय

"आबार रजनी आसिबे एखनि मेलिया पाखा"

—रवींद्रनाथ

"अति धीरे-धीरे उठिबे आकाशे लघु पाखा मेलि"

—रवींद्रनाथ

"थर-थर करि काँपिबे पाखा"

—रवींद्रनाथ।

जगह ज़्यादा घिर जाने के भय से अँगरेज़ कवियों के उद्धरण मैं न दे सका। और, यहाँ उद्धरण के लिये मेरे पास साधन भी कम हैं। देहात है, आवश्यक पुस्तकें यहाँ नहीं मिलतीं, स्मरण और कुछ ही पुस्तकों की सहायता से मित्रों के आग्रह की पूर्ति कर रहा हूँ। पंख का भाव लेकर पंख-प्रधान वाक्य में कुछ परिवर्तन कर देने पर भी कवि-कल्पना का मौलिक श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता, और इस दृष्टि से प्रायः सब कवियों को उधार लेना पड़ा है, इसका विस्तृत विवेचन इस समालोचना के अंतिम अंश मे करूँगा। उदाहरणार्थ शेली का—

"Sungirt city, Thou hast been Ocean's child."—

पेश करता हूँ। कविवर रवींद्रनाथ ने अपनी एक कविता मे, जिसका उद्धरण मैं पुस्तक के अभाव से न दे सका, पृथ्वी को समुद्र की कन्या कल्पना कर बहुत कुछ लिखा है। उनकी कविता में समुद्र-माता बाँहे फैलाकर आती, अपनी कन्या पृथ्वी को चूमती तथा अनेक प्रकार से आदर करती है। 'माता-पुत्री' के एक मूल भाव की प्राप्ति के पश्चात् तदनुकूल अनेक भावों की कल्पना कर लेना बहुत आसान है। इस तरह की कल्पना को मैं मौलिक नहीं मानता। जिस कल्पना का मेरु-दंड मौलिक नहीं, समालोचक की दृष्टि में वह 'घड़ा' देखकर 'हंडा गढने की तरह मौलिक है।

कार्यवशात् मुझे कलकत्ता आना पड़ा। रास्ते में गाड़ी काशी के स्टेशन पर पहुँची, साहित्यिक मित्रों की याद आई। साहित्य की मही वीर-विहीन हो रही है, या कोई महावीर इस समय भी प्रहरण-कौशल-प्रदर्शन कर रहे हैं, कुछ मालूम न था; कौतूहल बढ़ा, मैं गाड़ी से उतर पड़ा। पहले के एक पत्र से सूचना मिल चुकी थी कि खड़ी बोली की प्रथम कविता की स्वर्ण-लंका को छायावाद के मलिनत्व के स्पर्श से बचाने के लिये 'सरस्वती' के सुकवि-किंकर महाशय ने छायावाद के

कवियों की लागूलों मे आग लगा दी है। कहते हैं, वे कवि उनके सुदृढ़ गढ़ के कँगूरे ढहाते थे, अपने कर्ण-कटु शब्दों से उन्हे हैरान करते थे, और सबसे बड़ा पाप, सोते समय उनकी नासिका के छिद्र मे लागूल करके उन्हें जगा देते थे। अवश्य प्रकाश देखकर प्रसन्न होने से पहले अपने सुख और निद्रा के लिये मोहवशात् क्रोधांध हो जाना स्वाभाविक ही है—कुछ दिनों के बाद मालूम हुआ, लागूलों की प्रज्वलित वह्नि की शिखाएँ उत्तरोत्तर परिसर प्राप्त करती जा रही हैं। सोचा—यदि इस लंका में पवन-प्रिय पुच्छ-पावक को रावण, कुंभकर्ण, अतिकाय, महोदर और वज्रदंष्ट्रा आदि के गृहों के सिवा विभीषण की भीषण खाल में छिपे किसी कोमल कल्पना-प्रिय सहृदय सज्जन का 'राम-नाम अंकित गृह' नहीं मिला, तो अवश्य यह अनर्थ ही हुआ; क्योंकि इस तरह तो कविता-साहित्य के लंकाकांड की जड़ ही नहीं जम पाती, न भविष्य में हिंदी-साहित्य की रामायण के लिखे जाने की आशा ही सुदृढ़ होती है। निश्चय हुआ कि वर्तमान कविता की सीता के उद्धार के लिये अभी लागूलों मे अग्नि-संयोग से श्रीगणेश ही हुआ समझना चाहिए। यद्यपि इस समय भी लंका, पुलस्त्य-कुल, विभीषण और अशोक-वाटिका आदि वहाँ के संपूर्ण दृश्य और प्राणी लांगूलों के अनल से निःसृत धूम की छाया में छायावाद की कविता की ही तरह अस्पष्ट-रूप नजर आ रहे हैं। आश्चर्य है, न अब तक किसी 'कविराय' ने स्याही के समुद्र में लांगूल-अनल की ज्वाला प्रशमित की, न उनके विरोधियों ने ही 'तेल बोरि पट बाँधि पुनि' की कलकंठ-ध्वनि धीमी की।

मैं सोचता हुआ बाबू शिवपूजनसहायजी के डेरे पर पहुँचा। वहाँ वर्तमान कविता-साहित्य की बहुत-सी बातें मालूम हुईं। वहीं ३० जुलाई, १९२७ के 'मतवाला' मे किसी 'युगल' महाशय द्वारा की गई छायावाद के कवियों की प्रशसा मे पंतजी का यह पद्य उद्धृत पाया। अवश्य

'पल्लव' के साथ इसका संबंध नहीं है। शायद यह पंतजी की इधर की रचना है—

"प्रिये, प्राणों की प्राण !
अरे, वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकंपित-मृदु-उर, पुलकित गात;
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृक्-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण,
मधुरता में सी छिपी अजान;
लाज की छुई-मुई-सी म्लान !
प्रिये, प्राणों की प्राण !"

इसे पढ़ते ही मुझे रवींद्रनाथ की उर्वशी की ये पंक्तियाँ याद आ गईं—

"द्विधाय जड़ितपदे कंप्रवक्षे नम्रनेत्रपाते
स्मितहास्ये नहीं चल सलज्जित वासरशय्याते
स्तब्ध अर्द्धराते।"

द्विधाय = सशंकित (ज्योत्स्ना-सी चुपचाप)
जड़ितपदे = जड़ित पद
कंप्रवक्षे = विकंपित मृदु उर
नम्रनेत्रपाते = नमित-पलक-दृक्-पात
स्मितहास्ये = मधुरता मे सी छिपी अजान

नहीं चल वासर शय्याते = पास जब आ न सकोगी प्राण
सलज्जित = लाज की छुईमुई-सी म्लान

कहीं कुछ बढ़ा दिया गया है, कहीं रवींद्रनाथ ही के शब्द रख दिए गए हैं। रवींद्रनाथ की 'उर्वशी' के संबंध में बड़े-से-बड़े समालोचकों ने

लिखा है, 'उर्वशी' संसार के कविता-साहित्य में सौंदर्य की एक सर्वोत्तम सृष्टि है। 'उर्वशी' की पंक्तियाँ पंतजी के अनेक पद्यों में आई हैं। यह दिखलाया जा चुका है। इस तरह के अपहरण का फल भी कहा जा चुका है कि इससे भाव की लडी टूट जाती है, कविता का प्रकाशन-क्रम नष्ट हो जाता है।

"मा मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो
अश्रु-कणों का यह उपहार;

❀ ❀ ❀

तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम-जलमय मुक्तालंकार।"

—पंतजी

"तोमार सोनार थालाय साजाबो आज
दुखेर अश्रु-धार
जननी गो, गाथबो तोमार
गलार मुक्ताहार

❀ ❀ ❀

तोमार बुके शोभा पाबे आमार
दुखेर अलंकार।"

—रवींद्रनाथ

'जननी' की जगह पंतजी ने 'मा' संबोधन किया है। 'गलार मुक्ताहार' की जगह 'मंजुल हृदय-हार' आया है। 'दुखेर अश्रु-धार' की जगह 'जीवन की हार' आई है। 'तोमार बुके शोभा पाबे आमार दुखेर अलंकार' की जगह 'तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल श्रम-जलमय मुक्तालंकार' हो गया है।

रवींद्रनाथ की 'गीतांजलि' की इस कविता के साथ यदि पंतजी की उद्धृत कविता की समालोचना करूँगा, तो अकारण लेख की कलेवर-

वृद्धि होगी। अतएव जहाँ-जहाँ पंतजी ने परिवर्तन किया है, उस-उस स्थल के परिवर्तन के कारण सौंदर्य, सफलता, निष्फलता आदि छोड़ दिए गए। मेरे विचार से पंतजी के कुल 'विनय' पद्य से और रवींद्रनाथ की गीतांजलि' के १०वें गान से संपूर्ण समता है। वह परिवर्तन परिवर्तन नहीं। यदि हिंदी-संसार में युक्ति को कुछ भी मूल्य दिया जाता है, तो मैं कहूँगा, समालोचना होने पर युक्ति आदरणीय होगी।

"पंतजी की कविता में सोने का बड़ा खर्च है।" एक दूसरे कवि ने कहा था, जब मैं पंतजी के संबंध में उनसे वार्तालाप कर रहा था। उनके उदाहरण—

"मेरा सोने का गान।"

"वह सुवर्ण-संसार"—आदि-आदि।

यह भी पंतजी की अपनी चीज़ नहीं। बंगाल के कवि—

"आजि ए सोनार साँझे"

"सोनार वरणी रानी गो"

"आमार सोनार धाने गियाछे भरि"—आदि-आदि से

अपनी कविता-सुंदरी को आवश्यकता से बहुत अधिक स्वर्णाभरण पहना चुके हैं। और, उनके साहित्य में सोने की आमदनी हुई है विलायत के कवियों की मौलिक कृतियों की खानों से; जैसे—

"In the golden lightning
of the sunken sun"

पंतजी ने हाथ बढ़ाकर बुलाने के सौंदर्य की कल्पना में—

"बढ़ाकर लघु लहरों से हाथ"

"बढ़ाकर लहरों से कर कौन"—आदि-आदि।

अनेक पंक्तियाँ लिखी हैं—यह भी उनकी अपनी कल्पना नहीं। रवींद्रनाथ नदी की कल्पना में 'आकुलि विकुलि शत बाहु तुलि', अन्यत्र मेघेरे डाकिछे गिरि हस्त बाड़ाए' आदि बहुत कुछ लिख चुके हैं। पंतजी ने 'वहीं से लिया' जान पड़ता है।

यही हाल पंतजी के 'सजल'-शब्द का है। बँगला मे शायद ही किसी कवि से 'सजल' छूटा हो।

पंतजी के—

"सजल जलधर से बन जलधार"—में

'सजल''-शब्द 'जलधर' के विशेषण के स्थान में अर्थ की च्युति से रहित हो रहा है। जलधर तो सजल है ही, फिर सजल जलधर क्या ? जान पड़ता है, पंतजी ने 'जलधर' के शब्दार्थ की ओर ध्यान नहीं दिया, 'जलधर' को निष्प्रभ काले मेघ का एक टुकड़ा समझकर, उस पर 'सजल'-ता की वार्निश कर दी है। पंतजी के 'प्रवेश' मे शब्दों के रूप पर जो व्याख्या हुई है, उसके अर्थ से और पंतजी के इस तरह के प्रयोग से साम्य भी है। इसके संबंध मे मुझे जो कुछ लिखना है, आगे चलकर इस पर विचार करते समय लिखूँगा।

'राशि-राशि' और उनके 'शत-शत'-शब्दो से जो उच्चारण-सुख हमें मिलता है, इसका कारण हिंदी के कंठ-तालु-दंतोष्ठों द्वारा बँगला-अक्षरों के यथार्थ उच्चारण की अक्षमता है। ये दोनो प्रयोग बँगला के अपने, भाषा के प्रचलित मुहावरे हैं। हिंदी मे न कोई 'राशि-राशि' कहता है, न 'शत-शत'।

चले आसे राशि-राशि

ज्योत्स्नार मृदु हासि"—तथा—

"ए आदर राशि-राशि"—आदि से

बँगला मे 'राशि-राशि' की अगणित राशियाँ हैं, और 'शत-शत' की सहस्र-सहस्र। हिंदी में सबसे पहला 'शत-शत' का प्रयोग शायद मैथिलीशरणजी ने किया है, परंतु उन्होंने उसके पीछे एक 'संख्यक' जोड़कर उसे हिंदी की रजिस्टर्ड संपत्ति कर लिया। उनके 'पलाशीर युद्ध' के अनुवाद में है—

"शत-शत संख्यक कोहिनूर की प्रभा पाटकर—
दमक रहा था दिव्य रत्न उन्नत ललाट पर।"

अवश्य 'संख्यक' के न रहने पर 'शत-शत' मे कामिनी सुलभ कोमल सौंदर्य अधिक आ जाता है।

"हरे गगनेर नील शतदल खानि।"

—रवींद्रनाथ

"नभ के नील कमल में।"

—पंतजी

"I laugh when I pass by thunder."

"कड़क-कड़ककर हँसते हम जब थर्रा उठता है संसार।"

—पंतजी

"ये आए बीर बादर बहादर मदन के"

—भूषण

"मदन-राज के वीर बहादर"

—पंतजी

अब इस तरह की पंक्तियों के उद्धरण और न दूँगा। यदि आवश्यकता होगी, तो इस संबंध में फिर कभी लिखूँगा। यह विचार इस समय स्थगित करता हूँ। मेरा मतलब पतजी पर अकारण आक्रमण करना नहीं। जिस विषय पर 'पल्लव' के 'प्रवेश' मे उन्होंने एक पंक्ति नहीं लिखी—उधर दूसरों की समालोचना में अत्युक्ति-से-अत्युक्ति कर डाली है, उस विषय का साहित्य में अनुल्लिखित रह जाना मुझे बुरा जान पड़ा, मैंने उसका उल्लेख किया।

अब मैं उन विषयों पर क्रमशः लिखने की चेष्टा करूँगा; जिन पर पंतजी ने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में विचार किया है। पहले कवित्त-छंद को ही लेता हूँ। पतजी लिखते हैं, "कवित्त-छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिंदी का औरस-जात नही, पोष्य पुत्र है। × × × हिंदी के × × स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के

पालन-पूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु-अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है ; छंद की रचना में अंतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छंदोबद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं; हिंदी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता। सारी शब्दावली जैसे मद्य-पान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिंचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त-छंद के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छंद में बाँध दीजिए, यथा—

"कूलन में केलिन कछारन मे कुंजन मे क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है", इस लड़ी को भी सोलह मात्रा के छंद में रख दीजिए—

"सु-कूलन मे केलिन मे (और)
कछारन कुंजन मे (सब ठौर)
कलित क्यारिन मे (कल) किलकत
बनन मे बगरयो (विपुल) बसत।"

"अब दोनो को पढ़िए और देखिए, उन्ही 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-सगीत इन दो छंदों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है। कवित्त मे परकीय और मात्रिक छंद मे स्वकीय हिंदी का अपना उच्चारण मिलता है।"

कवित्त-छंद के सबंध में पतजी का ज्ञान पड़ना आर्यों के आदिम आवास पर की गई आर्यों ही की सृष्टि-तत्त्व के प्रतिकूल अँगरेज़ो की भिन्न-भिन्न कल्पनाओ की तरह बुद्धि का वयन-शिल्प प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कोई संग्राह्य सार पदार्थ नहीं रखता। हिंदी के प्रचलित छंदों में जिस छंद को एक विशाल भूभाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार बनाए रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक, सयोग-वियोग और मैत्री-शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज

साहित्य के रूप में विराजमान हो रही है—आज भी जिस छंद की आवृत्ति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनंद अनुभव करते हैं, जिसके समकक्ष कोई दूसरा छंद उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छंद को—उनके प्राणों की जीवनी-शक्ति को परकीय कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है, पंतजी स्वयं समझें। पंतजी की रुचि तमाम हिंदी-संसार की रुचि नहीं हो सकती। जो वस्तु उनकी अपनी नहीं, उसके संबंध में विचार करते समय, वह जिनकी वस्तु है, उन्हीं की रुचि के अनुकूल उन्हें विचार करना था। मैं समझता हूँ, जो वस्तु अपनी नहीं होती, उस पर किसी की ममता भी नहीं होती, वह किसी के हृदय पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। जिस दिन कवित्त-छंद की सृष्टि हुई थी, उस दिन वह भले ही हिंदी-भाषी अगणित मनुष्यों की अपनी वस्तु न रही हो, परंतु समय के प्रवाह ने हिंदी के अन्यान्य प्रचलित छंदों की अपेक्षा अधिक बल उसे ही दिया, उसी की तरंग में हिंदी-जनता को अपने मनोमल के धोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पड़ी। पंतजी ने जो कवित्त-छंद को हिंदी के उच्चारण-संगीत के अनुकूल, अस्वाभाविक गति से चलनेवाला बतलाया, इसका कारण पंतजी के स्वभाव में है, जिसका पता शायद लगा नहीं सके। उनकी कविता में (Female graces) स्त्रीत्व के चिह्न अधिक होने का कारण—उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त-जैसे पुरुषत्व-प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो संगीत में भी स्त्री-पुरुष-भेद हुआ करता है—राग और रागिनियों के नाम ही उनके उदाहरण हैं। अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री-भेद में और व्यंजन-प्रधान पुरुष-भेद में होंगे। पंतजी ने कवित्त की लड़ी को १६ मात्राओं से जो अपने अनुकूल कर लिया, वह स्त्री-भेद में हो गया है। वह कभी पुरुष-भेद में जा नहीं सकती, उसके स्त्रीत्व का परिवर्तन नहीं हो सकता, परंतु कवित्त

में यह बात नहीं। इस छंद में एक ऐसी विशेषता है, जो संसार के किसी छंद में न होगी। निर्गुण आत्मा की तरह यह पुरुष भी बनता है और स्त्री भी। यों पंतजी ने तो इसे नपुंसक सिद्ध कर ही दिया है। चौताल में इस छंद के पुरुषत्व का कितना प्रसार होता है, स्वर किस तरह परिपुष्ट उच्चरित होते हैं, आनंद कितना बढ़ता है, देखें—

चौताला—

\+ १ १ २
| | | | | | | | | | | | |
कू + ऊ + ल + न + मे + ए + के + ए + लि + न + अ + क

\+ १ १ २
| | | | | | | | | | | | |
छा + आ + र + न + मे + एं + कु + उं + ज + न + में + एं

\+ १ १ २
| | | | | | | | | | | | |
क्या + आ + रि + ने + में + एं + क + लि + त + अ + अ + क

\+ १ १ २
| | | | | | | | | | | | |
ली + इ + ई + न + कि + ल + क + अं + अं + त + है + ऐ

जिस "कूलन में केलिन कछारन मे कुंजन में क्यारिन मे कलित कलीन किलकंत है" कवित्त-छंद के संबंध में पंतजी कहते हैं, राग कुंठित हो जाता, सब गुरु और ह्रस्व स्वर आपस में टकराने लगते हैं—केवल एक मात्रा-काल मिलने के कारण उसी छंद के लघु और गुरु-स्वरों को इस चौताल के अवतरण मे देखिए, कोई दीर्घ ऐसा नहीं, जिसने दो मात्राएँ न ली हों, कहीं-कहीं ह्रस्व-दीर्घ दोनों स्वर प्लुत कर देने पड़े हैं। पहले कहा जा चुका है कि स्वभाव में Female graces की प्रधानता के कारण पंतजी कवित्त-छंद की

मौलिकता, उसका सौंदर्य, मन को उच्च परिस्थिति में ले जानेवाली उसकी शक्ति, उसकी स्वर-विचित्रता आदि समझ नहीं सके।

यही कवित्त-छंद, जिसे आप ४८ मात्राओं में चौताल के वर्गीकृत चार चरणों में अलग-अलग देखते हैं, जब ठुमरी के सुकोमल-स्वरूप में आता है, उस समय न यह उदात्त भाव रहता है, न यह पुरुष पुरातन तक ले जानेवाला उसका पौरुष। उस समय के परिवर्तित स्वरूप में इस समय के उसके लक्षण बिलकुल नहीं मिलते, उदाहरण—

तीन ताल—

(१६ मात्रा)

•　　　　　　　१　　　　　　+

| | | | | | | | | |

कू + ल + न + में + के + लि + न + क + छा + र +

　　　२　　　　　•

| | | | | | | | | |

न + में + कु + ब + न + मे + क्या + रि + न + मे +

१　　　　　+　　　　　३

| | | | | | | | |

क + लि + व + क + ली + न + कि + ल + ं +

| | |

त + है + ऐ

इस जगह तीन ताल की साधारण रागिनी में कवित्त-छंद का प्रत्येक अक्षर, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा पा रहा है, केवल अंतिम अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं, यह १६ + १६ मात्राओं से दोनो लड़ियों को बराबर कर लेने के अभिप्राय से। कवित्त के (१६ + १५) से संगीत के समय की रक्षा नहीं होती, इसलिये १५ मात्राओंवाले चरण के अंतिम गुरु अक्षर को दो मात्राएँ दी गई हैं। कवित्त का यह स्त्री-रूप है। यह झप तथा शूल में भी इस

मात्राएँ लेकर चल सकता है। इसका विश्लेषण यदि कल्पना की दृष्टि से न कर, प्रत्यक्ष जगत् में प्रचलित इसके स्वर-वैचित्र्य की जाँच करने के पश्चात् पंतजी इसके संबंध में कुछ लिखते, तो उन्हें इस तरह के भ्रम में न पड़ना पड़ता।

अब मुक्त-काव्य के संबंध मे कुछ लिखना चाहता हूँ। ंतजी लिखते हैं—"सन् १६२१ मे, जब 'उच्छ्‌वास' मेरी कृश लेखनी से यक्ष के कनक-वलय की तरह निकल पड़ा था, तब 'निगम'जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' मे उस 'बीसवी सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, "इसकी भाषा ˇगीली, छंद स्वच्छंद हैं।" पर उस वामन ने, जो लोक-प्रियता के रात-दिन घटने-बढनेवाले चाँद को पकड़ने के लिये बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टॅगें फैला दीं कि आज सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य-वश हिंदी मे सर्वत्र 'स्वच्छंद छंद' ही की छटा दिखलाई पड़ती है।"

पतजी की इन पंक्तियों से उनके स्वच्छंद छुद के प्रवर्तन की लिप्सा बहुत अच्छी तरह प्रकट हो गई है। उनके हृदय का दुःख भी लोगों के रचे हुए स्वच ंद छंद के विकृत रूप पर (जिसे वे ही यथार्थ रूप से सगठित कर सकने का पुष्ट विचार रखते हैं) प्रकट हो गया है, और बिना किसी प्रकार के संकोच के अपने सिद्धात पर प्रगाढ विश्वास रखते हुए स्वच्छंद हृदय से घोषित कर रहे हैं कि दूसरो के स्वच्छंद छंद की हरियाली पर उन्हीं के 'उच्छ्‌वास' के प्रपात का पानी पड़ा है, अथवा स्वच्छद छंद की अनुर्वर भूमि उन्हीं की डाली हुई खाद से उपजाऊ हो सकी है—उधर 'उच्छ्‌वास' के प्रथम मेघ से उस पर पानी भी उन्होने ही बरसाया; और चूँकि 'निगम'जी ने 'सम्मेलन-पत्रिका' में उनके 'उच्छ्‌वास' की लड़ियों को स्वच्छंद छंद स्वीकार कर लिया है, इसलिये वह स्वच्छंद छंद के सिवा और कुछ हो भी नही सकता।

इसमे संदेह नहीं कि पंतजी की भूमिका से हिंदी मे स्वच्छंद छंद विनोद बाबू का कॉमा (,) हो रहा है। इस 'कॉमा' का इतिहास—

किसी स्टेट मे (घटना सत्य होने के कारण स्टेट का नाम नहीं लिया गया) विनोद बाबू, एक बंगाली सज्जन, नौकर थे। हेड क्लर्क थे। सब ऑफिसरों को विश्वास था, विनोद बाबू अच्छी अँगरेज़ी लिखते हैं। खत-किताबत का काम उन्हीं के सिपुर्द था। एक रोज़ राजा साहब एकाएक कचहरी मे दाखिल हो गए। सब ऑफ़िसरों ने उठकर उनका यथोचित सम्मान किया। राजा साहब बैठ गए, और लोग भी बैठे। मैनेजर साहब विनोद बाबू की लिखी एक चिट्ठी ग़ौर से देख रहे थे। राजा साहब न रहते, तो अवश्य वह उस पर अपने हस्ताक्षर कर देते, परंतु राजा साहब को अपने कार्य की दक्षता दिखलाने के विचार से उन्होने विनोद बाबू से कहा, यहाँ एक कॉमा लगाना चाहिए। बहुत दिनो से राजा साहब स्टेट की देख-रेख कर रहे थे। परंतु यह श्रुति-मधुर नाम पहले कभी उन्होने न सुना था। उन्होने निश्चय कर लिया कि स्टेट की रक्षा के लिये यह ज़रूर शतघ्नी से बढ़कर कोई महास्त्र होगा। उन्होने मैनेजर की तनख्वाह बढ़ा दी। दूसरे दिन मैनेजर के आने से पहले ही वह कचहरी पहुँचे। तब तक विनोद बाबू दो-तीन चिट्ठियाँ लिख चुके थे। मैनेजर की कुर्सी पर राजा साहब को देखकर उन्हीं के सामने हस्ताक्षरों के लिये चिट्ठियाँ रख दीं। उसी तरह ग़ौर से राजा साहब भी चिट्ठियों को देखते रहे (राजा साहब को अँगरेज़ी-वर्णमाला का ज्ञान था)। विनोद बाबू से कहा, देख लो, कहीं कॉमा की ग़लती न हो गई हो। विनोद बाबू ने उस रोज़ तो शांति-पूर्वक सब काम किया, परंतु दूसरे दिन कॉमा के महत्त्व से घबराकर उन्होंने इस्तीफ़ा दाखिल कर दिया।

इसी तरह हिंदी में स्वच्छंद छंद के कॉमा का प्रचलन करना यदि पंतजी का अभिप्राय है, तो, मैं कहूँगा, आश्चर्य नहीं, यदि उससे कितने ही विनोद बाबू मजबूर होकर इस्तीफ़ा दाखिल करें।

पंतजी की कविताओं मे स्वच्छंद छद की एक लड़ी भी नहीं, परंतु वह कहतेहैं, ""पल्लव' में मेरी अधिकाश रचनाएँ इसी छंद में हैं, जिनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।" यदि गीति-काव्य और स्वच्छंद छद का भेद, दोनो की विशेषताएँ पंतजी को मालूम होती, तो वह ऐसा न लिखते। 'स्वच्छंद छद' और 'मुक्त-काव्य' के 'स्वच्छद' और 'मुक्त' विशेषणों के अलंकारो से यदि उन्हे अपनी शोभा बढाने का लोभ हुआ हो, तो यह और बात है; क्योकि हिंदी के वर्तमान शब्द-प्रमाद-ग्रस्त अनेक कवि स्वयं ही अपने नामो के पहले 'कविवर' और 'कवि-सम्राट्' लिखने तथा छापने के लिये संपादको से अनुरोध करने की उच्च आकाक्षा से पीड़ित रहा करते हैं। प'तु यदि यथार्थ तत्त्व की दृष्टि से उनकी पंक्तियों की जाँच की जाय, तो कहना होगा कि उनकी इस तरह की पंक्तियाँ—

"दिव्य स्वर या आँसू का तार
बहा दे हृदयोद्गार !"

जिनकी सख्या उनकी अब तक की प्रकाशित कविताओं मे बहुत थोड़ी है – विषम मात्रिक होने पर भी गीति-काव्य की परिधि को पार कर स्वछंद छद की निराधार नंदन-भूमि पर पैर नहीं रख सकतीं। उद्धृत प्रथम पंक्ति में चार आघात हैं और दूसरी में तीन। इस तरह की पंक्तियों मे छंद की मात्राओं से पहले संगीत की मात्राएँ सूझ जाती हैं। छंद भी सगीत-प्रधान है, अतएव यह अपनी प्रधानता को छोड़-कर एक दूसरे छंद के घेरे मे, जो इसके लिये अप्रधान है, नहीं जा सकता। दूसरे स्वच्छंद छद में 'तार' और 'गार' के अनुप्रासो की कृत्रिमता नहीं रहती—वहाँ कृत्रिम तो कुछ है ही नहीं। यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गईं, लड़ियों के बराबर रखने पर ध्यान रक्खा गया, तो इतनी बाह्य विभूतियों के गर्व में स्वच्छंदता का सरल सौंदर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि नष्ट हो जाता है। पंतजी ने जो लिखा

है कि स्वच्छंद छंद ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वच्छंद छंद मे Art of music नही मिल सकता, वहाँ है Art of reading. वह स्वर-प्रधान नही, व्यंजन-प्रधान है। वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नही, कवित्व का पुरुष-गर्व है। उसका सौदर्य गाने मे नही, वार्तालाप करने मे है। उसकी सृष्टि कवित्त-छंद से हुई है, जिसे पंतजी विदेशी कहते हैं, जो उनकी समझ में नही आया। मेरे—

"देख यह कपोत-कंठ—
बाहु-वल्ली—कर-सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितंब-भार—चरण सुकुमार—
गति मंद-मंद,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियो का ;
देवों-योगियो की तो बात ही निराली है।"

इस छंद को, जिसे मैं हिंदी का मुक्त काव्य समझता हूँ, पंतजी ने रवींद्रनाथ की—

"हे सम्राट कवि,
एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत"—आदि—

पंक्तियो के उद्धरण से बँगला से लिया गया सिद्ध करने की चेष्टा की है। वह कहते हैं, निरालाजी का यह छंद बँगला के अनुसार चलता है। उनकी यह रवींद्रनाथ के छंद से समता दिखाने का प्रयत्न शायद उनके कृत कार्यों का संस्कार-जन्य फल हो; परंतु वास्तव मे इस छंद की स्वच्छंदता उनकी समझ मे नही आई। यदि वह कवित्त-छंद को कुछ महत्त्व देते, तो शायद समझ भी लेते।

'देख यह कपोत-कंठ' के 'ह' को निकाल दीजिए। अब देखिए,

कवित्त-छंद के एक चरण का एक टुकड़ा बनता है या नहीं। इसी तरह 'बाहु-वल्ली कर-सरोज' के 'र' को निकालकर देखिए। लिखे हुए संपूर्ण चरणों की धारा कवित्त-छंद की है, नियमों की रक्षा नहीं की गई, न स्वच्छंद छंद मे की जा सकती है। कहीं-कहीं बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किए ही मेरे मुक्त-काव्य मे कवित्त-छंद के बद्ध लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अवश्य इस तरह की लड़ी मैं जान-बूझकर नहीं रक्खा करता। पंतजी द्वारा उद्धृत मेरे उस अंश की तीसरी लड़ी—

'उन्नत उरोज पीन'—

इसका प्रमाण है। यदि कोई महाशय यह पूछे कि कहीं-कहीं त कवित्त-छंद का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, और कहीं-कहीं नहीं हो पाता, ऐसा क्यों?—यह तो छंद की कमज़ोरी है, ऐसा न होना चाहिए, उत्तर में निवेदन मुझे जो कुछ करना था, एक बार संक्षेप में कर चुका हूँ, यहाँ फिर कहता हूँ। मुक्त-काव्य मे बाह्य समता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुखमिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह मे अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है। दुःख है, वे जरा देर के लिये भी नहीं सोचते कि संभव है, हमी किसी विशेष कारण-वश इसके साथ मिल न सकते हों—इसे पढ़ न सकते हों। वे तुरत अपना अज्ञान बेचारे कवि के ललाट पर मढ़ा हुआ देखने लगते हैं। व्यक्तित्व के विचार से अपने व्यक्तित्व का मूल्य कोई भले ही न घटाए, परंतु कवि बेचारे को भी अपनी समझ की तुला पर उतने ही वजन का रक्खे, निवेदन यह है। अन्यथा बुद्धि की इकतरफा डिग्री देने का उन पर दोष लगता है। मेरे 'अमित्र' जी जो पहलेपहल लोगों से मैत्री नहीं

कर सके, इसका मुख्य कारण यही है, उनके हृदय मे सहृदयता काफ़ी थी, वेश-वैचित्र्य के होने पर भी. इगितैर्गत्या. वह अपने ही जान पड़ते थे। पूर्व-कथित कारण के अनुसार, उन्हे देखकर, हमारे कुछ पूज्यपाद आचार्यों ने और कुछ कवि-महोदयो ने अपनी अमूल्य सम्मति की एक कौड़ी भी फ़िज़ूलखर्च मे नही जाने दी। गत वर्ष कलकत्ते मे, हिंदी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त से मुलाकात हुई, और इस अमित्र छंद के सबंध मे उनके पूछने पर मेरी ओर से उन्हे जो उत्तर मिला, उनकी उस समय की प्रसन्नता से मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे दो मनुष्यो के हृदय की बाते एक हो गई हो—जैसे मेरे विचार और उनके विचार एक हो गए हो। गुप्तजी ने कहा, मेरा भी यही विश्वास है कि मुक्त-काव्य हिंदी मे कवित्त-छद के आधार पर ही सफल हो सकता है। गुप्तजी द्वारा किया गया वीरागना-काव्य का अनुवाद जिन दिनो 'सरस्वती' मे निकल रहा था, उन दिनों, इस अमित्र छंद की सृष्टि मैं कर चुका था—मैं कर क्यो चुका था, भाव के आवेश मे 'जूही की कली' उन दिनों मेरी कापी मे खिल चुकी थी। गुप्तजी के छद मे नियम थे। मैंने देखा, उन नियमो के कारण, उस अनुवाद मे बहाव कम था—वह बहाव जैसे नियम के कारण आए हुए कुछ अक्षरो को—उनके बॉध को तोड़कर स्वच्छंद गति से चलने का प्रयास कर रहा हो—वे नियम मेरी आत्मा को असह्य हो रहे थे—कुछ अक्षरो के उच्चारण से जिह्वा नाराज़ हो रही थी।

जिस समय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सपादक थे, 'जुही की कली' सरस्वती मे छापने के लिये मैने उनकी सेवा में भेजी थी। उन्होने उसे वापस करते हुए पत्र मे लिखा—आपके भाव अच्छे हैं, पर छंद अच्छा नहीं, इस छद को बदल सके, तो बदल दीजिए।

मेरे पास ज्यो-की-त्यो वह तीन-चार साल तक पड़ी रही। फिर

संगीतात्मक विषम-मात्रिक गीति काव्य मे मैंने अपनी 'अधिवास' नाम की कविता 'सरस्वती' के वर्तमान संपादक श्रीपदुमलाल, पुन्नालालजी बख्शी बी० ए० महोदय के पास भेजी। पतजी ने अपने 'पल्लव' के 'प्रवेश' मे इसकी भी आलोचना की है, और इसमे संगीत के रहने के कारण इसे हिंदी की अपनी वस्तु बतलाया है (कारण, गीति-काव्य उनके छदों के प्रवाह से मिलता-जुलता है !) । अस्तु बख्शीजी ने उस कविता पर यह नोट लिखा—इसके भाव समझ मे नहीं आए, इसलिये सधन्यवाद वापस करता हूँ। यह उस साल की बात है, जिस साल पहलेपहल बख्शीजी 'सरस्वती' के संपादक हुए थे।

हिंदी-ससार समझ सकता है कि संपादको की इतनी बारीक समझ बेचारे नए लेखक और कवि पर क्या काम करती है। दो वर्ष बाद पूज्यपाद आचार्य द्विवेदीजी महाराज ने 'समन्वय' वालों से मेरा परिचय कराया। क्रमश: अनुकूल समय के आने पर मै 'समन्वय' का सपादक (प्रत्यत्न विचार से सहायक) होकर कलकत्ता गया। हिंदी के साहित्यिको मे मेरे प्रथम मित्र हुए बाबू महादेवप्रसादजी सेठ ('मतवाला के सुयोग्य सपादक) और बाबू शिवपूजनसहायजी (हिंदी के स्वनाम-धन्य लेखक) । श्रीमान् सेठजी को मेरी कविता में तत्त्व दिखलाई पड़ा, वह हृदय से उसके प्रशंसक हुए। बाबू शिवपूजनसहायजी ने अपने 'आदर्श' मे मेरी 'जुही की कली' को जगह दी, और भावों की प्रशंसा से मुझे उत्साह भी दिया। इसके पश्चात् वही 'अधिवास', जिसे बख्शीजी ने न समझ सकने के कारण वापस कर दिया था, सेठजी के कहने पर बाबू शिवपूजनसहायजी ने 'माधुरी' के संपादकों के पास भेज दिया, और 'माधुरी' के उस समय के सपादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव और श्रीरूपनारायणजी पाडेय ने उसे 'माधुरी' के मुख-पृष्ठ पर निकाला। यह बात 'माधुरी' के प्रथम वर्ष की है। कलकत्ते मे पाडेयजी की कविता-मर्मज्ञता प्रसिद्ध थी। इसीलिये वह कविता उनके पास भेजी गई थी।

भार्गवजी भी मेरी कविता के प्रशसक थे, यह मुझे मालूम हुआ, जब वह कलकत्ता गए। और भी मेरी कई कविताएँ 'माधुरी' में अग्र-पश्चात् निकलीं, परतु मुझे हिंदी संसार के सामने लाने का सबसे अधिक श्रेय है सहृदय साहित्यिक, श्रीबालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' के शब्दों मे छिपे हुए हीरे, श्रीमहादेवप्रसादजी सेठ को और उनके पत्र 'मतवाला' को। मुझे मेरे 'मास्टर साहब' हिंदी के वृद्ध केसरी श्रीमान् राधामोहन गोकुलजी ने भी किसी से कम प्रोत्साहन नहीं दिया।

मेरे विरोध मे जो बडे-बडे लोग खडे हुए थे, मैं उनकी चर्चा से अकारण लेख की कलेवर-वृद्धि न करूँगा। इतिहास की दृष्टि से जो कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ, 'माधुरी' के पाठकों के सामने उतना ही अश निवेदन के रूप मे रक्खूँगा।

चिरकाल मे बंगाल मे रहने के कारण हिंदी और बँगला की नाट्यशालाओ में अभिनय देखते रहने के मुझे विशेष अवसर मिले। कलकत्ता इन दोनो भाषाओ के रंगमंचो से प्रसिद्ध है। हिंदी के रग-मंचों में अलफ्रेड और कोरिंथियन के नाटको को देखकर मुझे बड़ा दुःख होता था। उनके नटो के अस्वाभाविक उच्चारण से तबियत घबराने लगती थी। उस समय मैं १६-१७ से अधिक न था। कल्पना की सुदूर भूमि में हिंदी के अभिनय की सफलता पर विचार करते हुए, बोलते हुए, पाठ खेलते हुए, जिस छद की सृष्टि हुई, वह यही है, और पीछे से विचार करके भी देखा, तो इसे स्वभाव-वश निश्छल हृदय की सत्य ज्योति की तरह निकला हुआ पाया। वेदो और उपनिषदों मे इसकी पुष्टि के प्रमाण भी अनेक मिले, और सबसे प्रधान युक्ति, जिस किसी के सामने मैंने इसे पढा, उसी के हृदय मे 'कुछ है' के रूप से इसने घर कर लिया। पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, पं० सकलनारायणजी शर्मा, पं० चंद्रशेखरजी शास्त्री, इसके उदाहरण हैं। पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज ने भी इसे मेरे मुख

से सुना है, और उस समय की उनकी प्रसन्नता ने मुझे सफलता का ही विश्वास दिलाया।

ये सब बाहर की बातें हुईं। मेरी आत्मा में तो इसकी सफलता पर इतना दृढ विश्वास है, जो किसी तरह भी नहीं दूर हो सकता। एक दिन वह भी था, जब हिंदी-संसार एक तरफ और मैं अपने 'अमित्र' महाशय के साथ एक तरफ था। अब तो उस तरह की शैली में बहुत कुछ दूसरों को भी सफलता मिल गई है।

अस्तु। वेदों और उपनिषदों मे इस तरह के अनेक छंद हैं। छंदःशास्त्र का निर्माण भाषा के तैयार हो जाने के पश्चात् हुआ करता है, जैसे बच्चे के पैदा हो जाने के बाद उसका नामकरण। स्वर की बराबर लड़ियों में भी शब्द निकलते हैं और विषम लड़ियों मे भी। जैसे आलाप मे ताल नहीं होता, राग या रागिनी का चित्र-मात्र देखने और समझने के लिये सामने आता है, उसी तरह मुक्त काव्य में स्वर का संयम नहीं देख पड़ता—स्वर की लड़ी बराबर नहीं मिलती, कविता की केवल मूर्ति सामने आती है। राग या रागिनी जब सीमा के अंदर, बजानेवाले की सुविधा के लिये, बाँध दी जाती है, तब ताल मे उसके बँधे रूप का लावण्य रहता है—जैसे एक ही विहग की वन मे स्वाधीन वृत्तियाँ और पींजड़े मे ससीम चेष्टाएँ।

वैदिक छंद, अतिछंद और विच्छंद को बहु भेदों मे बाँटकर भी कोई उनके सब छंदों के नामकरण नहीं कर सका। अंत मे अनंत भेद (!) मान लिए गए। ठीक ही है, जब सृष्टि मे भी 'अगणित' दिखलाई पड़ा, तब गिनने की धृष्टता समझ में आ गई।

इसी तरह मेरे मुक्त-काव्य मे गिनने की धृष्टता नहीं की जा सकती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कवित्त-छंद हिंदी का चूँकि जातीय छंद है, इसलिये जातीय मुक्त छंद की सृष्टि भी कवित्त-छंद की गति के अनुकूल हुई है।

ब्रजभाषा के संबध मे पतजी लिखते हैं—"हिंदी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कंठ फूट गया, अस्फुट अग कट-छँट गए, उनकी अस्पष्टता मे एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि मे आ गई; हृदय मे नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगी, ज्ञान की परिधि बढ गई: × × × × विश्व-जननी प्रकृति ने उसके भाल मे स्वय अपने हाथ से केशर का सुहाग-टीका लगा दिया, उसके प्राणो मे अक्षय मधु भर दिया है। × × × मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्ष की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मास-हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड गई हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गए हो; जैसे साहित्याकाश का 'तरणि' ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो; भाषा के प्राण चिर-काल से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गए हों × × × × और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरो के रहने योग्य; वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी—'कहत', 'लहत', 'हरहु', 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हो, अच्छी तरह खुलती न हों, अत: स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढने, उनके स्वर मे सोचने आदि का अभ्यास पड जाने से।"

खड़ी बोली और ब्रजभाषा पर पंतजी ने अपनी कविता की भाषा मे जो आलोचना की है, उसमें उन्होंने अपने ही भावों पर जोर दिया है, इसलिये उनके विचारों से अपना एक पृथक् विचार रखने पर भी मैं उन्हे विशेष कुछ कहने का अधिकारी नहीं रह जाता। सत्य-विवेचन की दृष्टि से ही मैं यहाँ ब्रजभाषा के संबध मे विचार करूँगा।

पतजी की तरह मेरा भी खड़ी बोली से प्रेम-सबध घनिष्ठ है। परंतु जब भाषा-विज्ञान का प्रश्न सामने आता है, उस समय कुछ काल के लिये विवश होकर प्रेम-संबध से अलग, न्यायानुकूल विचार करना पड़ता है। सस्कृत का 'धर्म' जब पाली मे 'धम्म' बन गया, उस समय धर्म की अपेक्षा 'धम्म' मे ही लोगो को अधिक आनद मिलता था। इधर 'धर्म' से 'धरम' का भी यही हाल रहा। स्वेच्छानुवर्ती कवियो ने किसी भी काल मे नियमो की परवा नही की। वे अपनी आत्मा के अनुशासन के अनुसार ही चलते गए। कुछ लोगो का कहना है कि समाज ज्यो ज्यो मूर्ख होता गया, अपभ्रष्ट शब्दो की संख्या भी त्यों-त्यो दिन दूनी और रात चौगुनी की कहावत के अनुसार बढती गई। क्रमशः भाषा भी एक रूप से दूसरे रूप मे बदलती चली गई। मै यहाँ इस मीमासा से प्राणों की सहृदयता की मीमासा अधिक पसद करता हूँ। मेरे विचार से अचिरता की गोद मे प्रचलित शब्दो की भी समाधि होती है—कुछ ही काल तक किसी प्रचलित शब्द को मनुष्य समाज के अधर धारण करते हैं। फिर उसके परिवर्तित रूप से ही उन का स्नेह अधिक हो जाता है। अथवा उस शब्द का अपर-रूप-धारण प्रेम के कारण ही हुआ करता है।

कारीगरी के विचार से ब्रजभाषा-काल मे शब्दो की जो छान-बीन हुई है, जिस-जिस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, भाषा-विज्ञान उन्हे बहुत ही ऊँचे आसन पर स्थापित करता है। सहृदयता उनकी व्याख्या मे अपने हृदय का रस निःशेष कर देती है। खडी बोली की विभक्तियाँ—को, के लिये, से, का, के आदि ब्रजभाषा का हिं, कों, से, सो, कहँ आदि से समता की स्पर्द्धा नही कर सकती। खड़ी बोली मे एक ही विभक्ति मधुर है – 'मे', परतु वह भी ब्रजभाषा की 'मँहँ' की श्रुति-सरसता से फीकी पड़ जाती है। ब्रजभाषा मे ँ की मणि से जैसा

सौंदर्य का उज्ज्वल गौरव खडी बोली मे नही मिल सकता । पश्चिमी भाषाओ में फ्रेंच की विजय और स्पर्द्धा इसीलिये है । संस्कृत मे भी इसके चढाव से ओ भरी हुई है । उधर ब्रजभाषा ने अपनी क्रियाओ के रूपो मे भी यथेष्ट श्रुति-कोमलता ला दिखलाई है । 'लाभ करते' की तुलना मे 'लहत', 'मुडते' की तुलना में 'मुरत', 'पाते' की अपेक्षा 'पावत' विशेष श्रुति-मधुर है । साराश यह कि ब्रजभाषा एक समय जीवित भाषा रह चुकी है, और यो तो अब भी वह जीवित ही है, परतु खड़ी बोली इस समय भी हिंदी-भाषा का मातृ-गौरव नही प्राप्त कर सकी । पतजी यदि खडी बोली मे ही विचारो का आदान-प्रदान करते हैं, तो इससे बढकर हर्ष की बात और क्या हो सकेगी । परतु जहाँ वह रहते हैं, अल्मोड़े के उन देहात-वासियो के साथ, अवश्य ही, उन्हे, वहाँ की ही प्रचलित भाषा मे बातचीत करनी पड़ती होगी, और, यदि अपनी उस जातीय भाषा से, खड़ी बोली के प्रति विशेष प्रेम के कारण, वार्ता-लाप करते समय, वह कुछ भी विराग दिखलाते होगे, तो निस्संदेह युक्ति के अनुसार, वहाँ के अधिवासियों के साथ अपने प्राणो की सोलहो आने सहृदयता से मिल भी न सकते होगे । भविष्य मे, दो-चार पीढ़ियों के बाद, शिक्षित समुदाय की एक भाषा अलग हो जाय, यह बात और है । और, जो लोग मेरठ-सरौडिंग की भाषा के साथ हिंदी मे प्रचलित वर्तमान भाषा-साहित्य को एक कर देने के प्रयत्न में रहते हैं, उनसे तो अकेले (हिंदी) कविता-कौमुदीकार ही अच्छे, जिन्होंने हिंदी की प्रथम सृष्टि से अब तक का क्रम किसी तरह नही बिगड़ने दिया । ब्रजभाषावालो के शब्दो और क्रियाओ के परिवर्तित रूप तो पतजी को जाड़े की कुक्कुर-कुंडलीवत् सिकुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं, और स्वयं जो खड़ी बोली के चिर-प्रचलित 'भौंह'-शब्द को 'भौंह' कर देते हैं, कहते हैं, वह सुदर बन जाता है ।

बात यह कि आज किसी प्रांतीय भाषा के साथ अपने हृदय की पूर्णतम और उज्ज्वल उत्कर्ष पर विश्वास रखकर वार्तालाप करने की शक्ति, हिंदी के प्रचलित दो रूपों में, यदि किसी मे है, तो ब्रजभाषा में। ब्रजभाषा का प्रभाव बंगाल के प्रथम वैष्णव कवियों पर भी पड़ा और इधर सुदूर गुजरात तक फैला। उद्धरणों से लेख की कलेवर-वृद्धि का भय है। इसलिये ब्रजभाषा का भाषा वैज्ञानिक विस्तृत विवेचन, समय मिला, तो फिर करूँगा।

अब आजकल के प्रचलित विश्ववाद पर विचार होना चाहिए। पतजी लिखते हैं—"अधिकाश भक्त कवियों का संपूर्ण जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच मे उन्हीं की सकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी मे बह गए; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गए, तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गई। × × × कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडुगन केशवदासजी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करनेवाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियो मे से जिनकी विलास-वाटिका मे भी आप प्रवेश करें, सब मे अधिकतर वही कदली के स्तभ, कमल-नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चद्र; चार आँखे होना, कटाक्ष करना, आह भरना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना बस इसके सिवा और कुछ नहीं! सबकी बावड़ियो में कुत्सित प्रेम का फुहारा शत-शत रसधारो मे फूट रहा है; सीढियो पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक सग रपट पड़ती, कभी नीर-भरी गगरी ढरका देती है! × × × उसका (ब्रजभाषा का), वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पृथ्वी तथा

पश्चिमी गोलार्द्ध; जल-स्थल, अनिल-आकाश, ज्योति-अंधकार, वन-पर्वत, नदी-घाटी, नहर-खाड़ी, द्वीप-उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्खिणी ध्रुव तक का प्राकृतिक सौंदर्य, × × × सब कुछ समा सके।"

जिनके संस्कार बहुत कुछ अगरेजी-कविता के साँचे मे ढल जाते हैं, उन्हे ब्रजभाषा को कविता पसंद नही आती, यह बहुत ठीक है। परंतु यह भी बहुत ठीक है कि पंतजी ने ब्रजभाषा पर अपनी उदासीनता के कारण जो कटाक्ष किया है, वह कुछ ही अंशो मे सत्य है।

आजकल के शिक्षित लोग यह समझते हैं कि वे पहले से इस समय ज्ञान की ऊँची भूमि पर विचरण कर रहे हैं। पहले तो यह ज्ञान ही मेट देता है। इसके पश्चात् गौरांगो की उज्ज्वल अँगरेजी, गौरांगों का गुरुत्व और कृष्णांगो पर गौरांगो का भाष्य और उस भाष्य पर कृष्णांग बालको का विश्वास।

'भारत-भारती' के एक पद्य मे है, अच्छा लिखा है दो ही लाइन मे कि जिस समय से भारत के पतन का अंधकार घनतर होता गया, दूसरे देशों विशेष रूप से पश्चिम की उन्नति का क्रम उसी समय से दिखलाई पड़ता है। इसलिये भारत की उन्नति के समय का अनुमान करना कठिन है। अपने समय का श्रेष्ठ अँगरेज विद्वान् मैक्समूलर, प्राचीन भारत के कल्पना-लोक मे विचरण करते रहने के कारण, नवीन भारत के विकृत रूप को देखने का साहस नही कर सका। बार-बार उसने अपनी भारत-दर्शन की लालसा रोकी।

ऐसे भारत की कविता में भो एक विचित्र तत्त्व है। थोड़ी देर के लिये ब्रजभाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों को दुनाली बंदूक के सामने रखकर भी ज़रा सुन लीजिए। संस्कृत-काल के व्यास और शुकदेव प्रसिद्ध ऋषि हैं। शुकदेव

की जीवनी किस भारतीय से अविदित न होगी। इन दोनो महापुरुषो का स्मरण कर भागवत भी देखिए। देखिए, एक ओर कवि के गहन वेदांतिक विचार और दूसरी ओर गोपियो के शृंगार-वर्णन में अश्लीलता की हद, जैसा कि आजकल के विद्वान् कहेगे। उधर गीत-गोविंद के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नही है। उनके भी—

"गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चचल-कर-युगशाली—
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—

अयि प्रिये, "मुंच मयि मानमनिदानम्"—आदि देखिए। और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

"चरन - चपल - गति लोचन नेल"
"चरन - चपलता लोचन नेल"

का लोभ पंतजी संवरण नही कर सके, और अपने गद्य मे भी—

"पदो की चचलता दृष्टि मे आ गई" द्वारा भावानुसरण की चेष्टा की, वह विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप से रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वह अपने किसी भी समानधर्मा से घटकर न होगे—

"दिन-दिन पयोधर भै गेल पीन ;
बाढ़ल नितंब माझ भेल खीन।"
"थरथरि काँपल लहु लहु भास ;
लाजे न बचन करए परकास।"
"नीबिबंधन हरि काहे कर दूर ;
एहो पै तोहार मनोरथ पूर।" आदि-आदि

अश्लील-से-अश्लील वर्णन उन्होने किए हैं। यही हाल बँगला के

प्रथम और सर्वमान्य कवि चंडिदास का रहा, जिन्हे देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर-रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनकी प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरो की तरह वह अश्लील नही हो सके। इधर ब्रजभाषा मे भी यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो ज़िक्र ही नही किया गया।

भारतवर्ष और योरप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनों की भावनाओ के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवींद्रनाथ की युक्ति के अनुसार योरप की कविता के सितार मे, बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरनेवाले तारों की झनकार ज्यादा रहती है। परंतु भारतवर्ष मे विशेष ध्यान रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का सचार कविता मे अधिक देख पड़ता है। यहॉ के कवि व्यर्थ की बकवास नहीं करते। यहॉ वहॉ के उपमान-उपमेयों का ढग भी जुदा-जुदा है। यहॉ की उपमा जितना चुभती है, वहॉ की उपमा उतना घाव नही कर सकती। यहॉं प्रेम है, वहॉ मादकता। यहॉं दैवी शक्ति है और वहॉ आसुरी; इसलिये यहॉ की कविता में एक प्रकार की शक्ति रहती है और वहॉ की कविता में प्रगल्भता। यदि तुलसी-कृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान् अँगरेज़ के सामने रख दिया जाय, तो शायद ही श्रीगोस्वामीजी की कविता मे उसे कोई कला (art) दिखलाई पड़े। बल्कि मै तो गोस्वामीजी को महासौभाग्यवान् समझूॅ, यदि उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र-चित्रण को देखकर, वह उन्हें हाल ही दम लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शात रहे। विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, आप सहज ही अनुमान कर सकते हैं। एशिया के कवियो में उमरख़ैयाम की योरप मे अधिक प्रशंसा होने का कारण जितना उसकी कविता नही, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कवाब, नायिका और निर्जन हैं। ब्रजभाषा की कविता का

जितना अश अश्लीलता के प्रसग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नही, रहा आह भरना, कटाक्ष करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि मे शृंगार का परिपाक नायिकाओ के इन्ही व्यवहारो, इन्ही आचरणो, सामाजिक इन्ही नियमों के आश्रय से हो सकता है। न ब्रजभाषा-काल मे अँगरेज़ी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष मे हुआ, न गधे के चित्रण में आर्ट (art) दिखलाने की कवियो को जरूरत मालूम पडी। यह मैं मानता हूँ कि मानवीय सृष्टि मे उस समय अश्लीलता की हद कुछ अधिक हो गई थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण।

परंतु मियाँ की दौड़ मस्जिद तक के अनुसार, ब्रजभाषा के कवियो पर वृंदावन, गोकुल, मथुरा और नदगाँव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लाञ्छन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नही कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-विवाद से अनभिज्ञ थे। ब्रजभाषा के एक भूषण ने भारतीय राष्ट्र के लिये जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अंदर समग्र भारतवर्ष मे अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। प्रचलित रीतियो और अपने जातीय मेरुमूल-धर्म-भावो से प्रेरित होकर एक कृष्ण को ही उन लोगों ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधार-स्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट मे चौदहो भुवन—एक यह पृथ्वी या केवल योरप नहीं—चौदहो भुवन समाए हुए हैं। सर जगदीशचद्र को जिस दिन एक पौधे मे एक वीक्षण-यंत्र द्वारा आश्चर्य कर अनेक विषय—अनेक सृष्टियाँ दिखलाई पड़ी थीं, उस दिन भारत के महर्षियो के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होने लिखा था, जी चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड़ दूँ, अपने ऋषियों के गौरव की पूजा करूँ। कृष्ण की गोपियो के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानदजी उसके सबंध मे कहते है, वह इतने उच्च

भावो की है कि जब तक चरित्र मे कोई शुकदेव न होगा, तब तक श्रीकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नही हो सकता। कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता मे सर्व-धर्म-समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियो के हृदय मे स्वभावतः पुष्प-चंदन से अर्चित हुआ और वृंदावन का कतरा ब्रजभाषा के कवियो को दरिया नज़र आया। वासनावाले कवियो ने श्रीकृष्ण की वर्णना मे ही अपने हृदय का जहर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्त्व दिया। कुछ लोगो ने राजो-महाराजों और अपने प्रेम-पात्रो पर भी कविताएँ लिखीं।

एक दिन मैं अपने मित्र श्रीशिवशेखर द्विवेदी को, जब वह हिंदी की मध्यमा-परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, सूर की पदावली का एक पद पढ़ा रहा था। इस समय मेरे पास वह पुस्तक नही, न वह पद मुझे याद है। अंतिम लड़ी उस पद की शायद यो है—"समझयो सूर सकट पगु पेलत।" इस पद के पढाते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति मुझे उसमें दिखलाई पडी। उस पद मे कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अँगूठा मुँह में डाल रहे हैं, और इससे तमाम ब्रह्मांड डोल रहा है—दिग्दंती अपने दाँतो से दृढता-पूर्वक धरा भार के धारण का प्रयत्न कर रहे है। इन पंक्तियो मे भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभि-प्राय यह है कि किसी एक केंद्र के चेतन-स्वरूप से तमाम ससार, संपूर्ण विश्व-ब्रह्मांड के प्राणी गुँथे हुए हैं, इसलिये उसके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजो और शेषजी को धारण करने की शक्ति दी गई है, ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिये श्रीकृष्ण की मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा मे हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणा-शक्ति से बार-बार धारण करते हैं। इस चेतन के कान-गुण से कहीं-कहीं खंड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु, भारतीय विश्ववाद इस प्रकार का चेतनवाद है, जिसमे अगणित सौर-

संसार अपने सृष्टि-नियमो के चक्र से विवर्तित होते जा रहे हैं। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिये "सकट पगु पेलत"—धीरे-धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि में मग्न होने की चेष्टा कर रहे है—साधना कर र॰ हैं। हरएक केंद्र मे वह चेतन-स्वरूप, वह आत्मा, वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केंद्र को ग्रहण किया। तुलसी ने श्रीरामचद्र के केंद्र का और कबीर े निर्गुण आत्मा को—बिना केंद्र के केंद्र को। भारत के सिद्धात से यथार्थ विश्व-कवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी-जैसे महाशक्ति के आधार स्तंभ। तुलसी भी—"उदर माँझ सुनु अंडज राया।; देख्यो बहु ब्रह्माड निकाया" से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते है, और यह भ्रम नही—वह ज़ोर देकर कहते हैं—"यह सब मैं निज नयनन देखा।" भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्व कवि जड़ विश्व की धूल पाठकों पर नही झोकते - वह ब्रह्माडमय चेतन का अजन उनकी आँखो मे लगाते हैं। रवींद्रनाथ का विश्ववाद योरप के सिद्धात के अनुकूल है, और उनके ब्राह्मसमाजी होने के कारण, उनका विश्ववाद उपनिषदों से भी सबध रखता है। रवीद्रनाथ का 'विश्व'-प्रयोग अर्थ की दृष्टि से कदर्थ की सृष्टि नही करता। परंतु पतजी "विश्व-कामिनी की पावन छवि मुझे दिखाओ करुणावान्" से, 'विश्व'-शब्द-मात्र से लोगों की नज़र बाँधने की लालसा रखनेवाले जान पड़ते हैं, और अर्थ की तरफ़ से वही—"अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः।" पतजी की 'विश्व-कामिनी' यदि "विश्व ही कामिनी=कर्मधारय" है, तो कोई सार्थकता नहीं दिखलाती, और यदि "विश्व की कामिनी=छठा तत्पुरुष" है, तो भी कोई अर्थ नहीं देती; विश्व मे जितनी कामिनियाँ हैं, सब किसी-न-किसी देश को, किसी न-किसी समाज ही की हैं, इस तरह सब एकदेशीया हुई, व्यापक विश्व की कामिनी किस तरह की होंगी, यह पंतजी ही बतलाएँ।

वर्तमान विश्ववाद ब्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओ के कवियो मे चेतनवाद या वेदातवेद्य अनंतवाद के रूप मे मिलता है। जो लोग यह समझते है कि भारतवर्ष के पिछले दिनो में लोगो की बुद्धि संकुचित हो गई थी, और पंतजी के शब्दो मे यह कहने का साहस कर बैठते हैं कि ब्रजभाषा मे कुछ कवियो को छोडकर प्रायः अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अंदर ही तेली के बैल की तरह अंध चक्कर काटते चले गए हैं, वे वास्तव मे गलती करते हैं। मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की उदारता, उसका विशाल हृदय, मुसलमानों से लडते-लडते प्रतिघातों के फल से धार्मिक संकीर्णता में मृदु-स्पंदित होने लगा था, और उसकी व्यावहारिक पहली विशालता चौके के अंदर आ गई थी। परंतु दार्शनिक लोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्राकृति वाले मनुष्यो का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्य का ही परिचायक सिद्ध होता है। हरएक मनुष्य, हरएक प्रकृति, हरएक जाति, हरएक देश दबाव से सकोच-रूप धारण करता है। ब्रज-भाषा-काल मे इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य मे भी पड़ा, और उस काल की हमारी हार हमारी ंकुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती है, यह सब ठीक है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि वह दबाव आवश्यक था जाति को संकुचित करके उसे शक्तिशाली सिद्ध करने के लिये—शेर जब शिकार पर टूटता है, तब पहले, उसकी तमाम वृत्तियाँ—तमाम शरीर सिकुड़ जाता है, और इस संकोच से ही उसमें दूर तक छलाँग भरने की शक्ति आती है। ब्रज-भाषा-काल का जातीय सकोच जिस तरह देखने के लिये बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छलाँग भी भराई उससे बहुत लंबी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारतवर्ष ने दिखाया हो—"Either sword or Quran"-वाले धर्म के सामने हर्ष-विषाद-रहित हो जाति के वीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेटें चढाईं—एक-

दो नहीं—अगणित सीताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गईं—उस सकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता ब्रज-भाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों मे नहीं - चारणो के मुखो मे प्रतिध्वनित हो रही है, जैसे उस समय की सीमा को वे वीर एक ही छलाँग से पार कर गए, और अपने भविष्य-वशजो के पैरो मे एक छोटी सी बेडी डाल गए—भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेड़ी के तोड़ने के लिये हो रहे हैं—धार्मिक, सामाजिक और नैतिक नादों के साथ-साथ।

जिस तरह धार्मिक छलाँग भरी गई उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रक्खा गया, एक पद्य के अदर—एक छोटी-सी सीमा मे भावो की विशालता ला दी जाय। मथुरा-ब्रज-गोकुल और द्वारिका की छोटी-सी सीमा मे पंतजी अकारण भटकते हैं—यह तो कवियो की, भावो के दिव्य-आधार कृष्ण पर की गई, प्रीति है—आप भाव ग्रहण कीजिए, 'श्याम' के नाम से न घबराइए—बड़ा-सा दृश्य चाहते हैं आप ?—लीजिए—

"सावन-बहार झूलै घन की घुमड पर,
घन की घुमड पौन चंचला के दोले पै;
चचला हू झूलै घन सेवक अकास पर,
झूलत अकास लाज-हौसले के टोले पै।"

लाज और हौसले के टोले मे आकाश झूलता है—समाज और हौसले के आनद के कपन से तमाम प्रकृति—तमाम आकाश के परमाणु आनंद से काँपते है—देखिए चेतन—देखिए सौंदय की दिव्य मूर्ति—देखिये आकाश-जैसे बड़े को लाज-जैसी छोटी सी सखी के टोले में झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे मे।

नारियो या नायिकाओ के भेद, रसो के भेद अलंकारों—भूषणों के भेद, छदोके भेद, ध्वनियो की परख कवेता-साहित्य का विश्लेषण जहाँ तक

हो सकता है - आर्य-भाषाओ के किए हुए उन उपायों के अनुसार, ब्रज-भाषा के काव्य-साहित्य ने सब भेदो पर लिखा, और खूब लिखा। क्या कविता-साहित्य का इतना सुंदर विश्लेषण ससार की किसी आर्येतर भाषा ने किया ? पंतजी, क्या आप शराब, कबाब और बग़ल में बीवी-वाले कवियों को अश्लील न कहेगे ? यदि कहते है, तो योरप का एक प्रसिद्ध कवि निकालिए, जो इन दुर्गुणो से बचा हो, और शृंगार की कविता मे बाजी मार ले गया हो। ब्रज-भाषावालों ने तो फिर भी कृष्ण-जैसे शृंगार-रस के महापुरुष की आड़ मे—उस मदन को मूर्च्छित कर देनेवाले कामजित् आदर्श की शरण मे अपनी वासनाओं को चरितार्थ किया—यह क्या योरप की कविता के बालडास् से भी गया—बहा हो गया ?

योरप की कविता के जो अच्छे गुण हैं, मै उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णनाशक्ति स्वीकार करता हूँ, परतु यह उन्हीं की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचना द्वारा नहीं। जिस दिन हिंदोस्तान मे अपने पैरों खड़े होने की शक्ति आएगी—वह स्वाधीन होगा -उस दिन तक योरप के इन भावो की क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे। दु.ख है, उस समय मुझे और पतजी को आलोचना की ये बाते याद न रहेगी। ब्रज भाषा के पक्ष की अनेक बाते, अनेक उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, लेख-वृद्धि के भय से छोड दिए गए। मै यहाँ केवल इतना ही कहूँगा कि ब्रज-भाषा के कवियो ने सौदर्य को इतनी दृष्टियो से देखा है कि शायद ही कोई सौदर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने सुख के दिन इतनी आवारगी मे बिताए हो और वह जाति जाग्रत् होने के बदले काल के गर्भ मे चिरकाल के लिये विलीन न हो गई हो।

शब्दों के चित्र पर अब कुछ लिखना आवश्यक है। पतजी लिखते हैं—'हिलोर' मे उठान, 'लहर' मे सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कंपन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर

गिरना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिये भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो, अँगरेज़ी का (wing) जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'touch' में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रज-भाषा के परस में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, हर्ष से उसी प्रकार आनंद का विद्युत् स्फुरन् प्रकट होता है। अँगरेज़ी के 'air' में एक प्रकार की 'transparency' मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखलाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिंचकर, फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभंजन' 'wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्रों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है, जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"

पंतजी की इस छान-बीन का ही फल है कि उनके तपे हुए हृदय के श्वेतकमल पर कविता की ज्योतिर्मयी मूर्ति खड़ी हुई। उनकी दृष्टि की तृष्णा आकर इस व्याख्या से बहुत अच्छी तरह प्रकट हो रही है। रूप का अन्वेषण करती हुई उसने अरण्य, पर्वत, खोह और कंदराएँ कुछ

भी नहीं छोड़ा। शब्दों के रूपों को उनकी दृष्टि की करुण प्रार्थना से आना ही पड़ा। उनके स्वर के प्राणायाम ने आकर्षण-मंत्र सिद्ध कर दिखाया। उनकी दृष्टि ने शब्दों के रूपों का अमृत पिया।

परंतु यहाँ भी भारतीय शब्दों की भारतीय व्याख्या उनके इस अन्वेषण से प्रतिकूल चल रही है। बँगला के रवींद्रनाथ और अँगरेज़ी के शेली पंतजी की व्याख्या से, अपने दल की पुष्टि के विचार से प्रसन्न होंगे। परंतु भारतवर्ष के आचार्य और कवि नाराज होंगे। इसी विषय पर यहाँ के आचार्यों ने दूसरी तरह से व्याख्या की है। पंतजी की व्याख्या से जाहिर है, उनका झुकाव अँगरेज़ी-शब्दों के तत्सम रूपों की ओर अधिक है, और यह प्रयत्न ऐसा है, जैसे भारतवर्ष की आबोहवा को अँगरेजी दवाओं के अनुकूल करना।

भारतवर्ष के शब्दों के चित्र पहले से तैयार किए हुए हैं। धातु-रूप से उनके चित्र निकाले जा चुके हैं। जैसा पंतजी कहते हैं, touch में जो छूने की कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती; वहाँ एक विशेष बात है, जिसकी ओर, अपने संस्कारों के वश, पंतजी ध्यान नहीं दे सके। touch के छूने की क्रिया पर विचार कीजिए, 't' से जीभ मूर्द्धा स्पर्श करती है, फिर 'अच्' (ouch) से स्वर-वायु भीतर से निकलकर जैसे बाहर की किसी वस्तु को छू जाती हो, इस तरह 'touch' से स्पर्श की क्रिया उच्चारण द्वारा होती है। 'स्पर्श' में जो छूने की क्रिया है, वह 'touch' से और सुंदर और मधुर है। यों तो यहाँवाले 'स्पृश' का ही अपभ्रष्ट रूप 'touch' (टच् या टश्) हुआ है, कहेंगे। 'स्पर्श' की 'स्पृश्'-धातु की क्रिया देखिए —

'स्' दंतों को स्पर्श कर, 'प' द्वारा ओष्ठों को—शरीर के सबसे अंतिम उच्चारण-स्थल तक पहुँचकर — स्पर्श करता है, फिर 'ऋ' द्वारा स्वर-शक्ति अंतर्मुखी होती है, जैसे उस स्पर्श का संवाद देने के लिये, 'श' से तालु स्पर्श करती हुई 'स्पर्श' की कोमलता का अनुभव करा जाती है

तालु से उच्चरित होनेवाले अक्षर कोमल हैं। पंतजी जो यह लिखते हैं कि 'स्पर्श', जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमाच होता है, उसका चित्र है, यह विचार वह बहिर्दृष्टि से कर रहे हैं—उनका यह स्पर्श बाहर से होता है, जो भारतीय शब्दो की विचारणा-प्रणाली की अनुकूलता नहीं करता। 'touch' के समथन से उनके विचार बाह्य हो जाते हैं - 'touch' से बाहर की वस्तु के छूने की क्रिया होती है। चूँकि भारतीय समस्त विचार अंतरात्मा से स ंध रखनेवाले अतरात्मा को ही रूप, रस, गध और शब्द-स्पर्श से सुखी करनेवाले होते हैं, इसलिये 'स्पर्श' होठों से बाहर नही जा सका, जैसे सब क्रिया अपने ही भीतर हुई, और उसका फल भी अपने ही भीतर मिल गया। पतजी का 'touch' का विचार भी बाह्य है और स्पर्श का भी। अंत मे जो वह कहते हैं, 'परस' मे छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, यह सिर्फ खयाल है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का एक उदाहरण पतजी ने भी दिया है--

"घन घमड गरजत नभ घोरा।"

इन शब्दो में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपना विशेष अथ न रखता हो। इन तमाम शब्दों के एक साथ उच्चारण से बादलों की गजना जैसे हो रही हो—ग. घ. ड. भ. का कोई-न-कोई प्रत्येक शब्द में आया है। फिर—

"प्रिय-विहीन डरपत जिय मोरा।"

प्रिया के वियोग से क्षीण प्रियतम के हृदय का भय 'डरपत' क्रिया के चित्र-फल से प्रकट किया गया। एक ओर मेघो मे प्रकृति का उत्कट उत्पात, दूसरी ओर विरह-कृश पति के हृदय मे भय, घबराहट। एक ओर विराट् दूसरी ओर स्वराट्। एक ओर उत्पात, दूसरी ओर उसकी क्रिया। एक ओर कठोर, दूसरी ओर करुण, कितना सुंदर निबाह है।

इस प्रसग मे मै और अधिक उद्धरण न दूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ; यहाँ के शब्दो से, यहीं के प्रचलित अर्थ के अनुकूल, काम लेना ठीक है। पंतजी अपनी कल्पना मे पड़कर कितना बडा अनर्थ करते हैं, देखे—

"हमे उड़ा ले जाता जब द्रुत दल-बल-युत घुस वातुल चोर"

अपनी इन पक्तियो के सबध में पंतजी लिखते हैं—"इसमे लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल-चोर के दल-बल-युत घुसने के लिये मार्ग बनाती है।

पहला एतराज यह है कि दल-बल-युत आदि शब्दों की आवृत्ति यदि घुसने के लिये मार्ग बनाती है, तो सफरमैना की पलटन की तरह वह अर्थ की लडाई मे काम भी न देती होगी। तुलसीदासजी की उद्धृत चौपाइयो मे देखा गया—शब्द गरजते और काँपते है, और अपने अर्थ के फाटक की रक्षा भी करते हैं।

दूसरा यह कि चोर यदि वातुल है, वात-ग्रस्त है, पागल है, तो उड़ा ले जाने की बुद्धि से रहित है, क्योंकि विकृत-मस्तिष्क है।

तीसरा यह कि मेघ को उडाने का कार्य वायु ही करता है, बिना किसी सहायक के अकेला। यदि उसके इस उडाने के कार्य मे और-और सहायक आते हैं, जिससे 'दल-बल-युत' के अर्थ की पुष्टि होती है, तो पंतजी बतलाएँ, उसके ये सहायक और कौन-कौन-से हैं।

चौथा यह कि यदि 'वात-चोर' के कर्मधारय का रूप 'वातुल-चोर' बना है—'वात'-शब्द विशेषण के रूप में 'वातुल' कर दिया गया है, तो यह भारतवर्ष के किस प्रदेश के व्याकरण के अनुसार सिद्ध होगा, जिससे हमें विश्वास हो जाय, 'वातुल-चोर' द्वारा वात या वायु के चोर होने का अर्थ सिद्ध होता है।

अब यहाँ से मैं पतजी के 'प्रवेश' की आलोचना समाप्त करता हूँ,

यद्यपि उनके लिखे हुए अभी बहुत-से विषय ऐसे रहे जा रहे हैं, जिन पर कुछ-न-कुछ लिखना आवश्यक था।

अब मैं पंतजी की कविताओं के निबाह पर कुछ लिखना चाहता हूँ। 'पल्लव'-पुस्तक में उनकी कविता 'पल्लव'-शीर्षक पद्य से शुरू होती है—श्रीगणेश इस तरह होता है —

"अरे, ये पल्लव-बाल !
सजा सुमनो के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार,
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
नहीं छूटी तरु - डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल।"

पहले इन दोनो पंक्तियों को देखिए—

"अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !"—

'प्रवाल'-शब्द दो बार आया है, एक बार तो पल्लवो को ही उन्होने नवल-प्रवाल कहा, फिर पल्लवों के अधरों मे प्रवाल जड़ दिए ! अर्थ हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालो को हिला रहे हैं !— इस तरह उपमान-उपमेय का निर्वाह सार्थक नहीं हो सका। दूसरे, 'हिलाते अधर-प्रवाल' का भाव-चित्र बड़ा ही विचित्र है। मैं जब इसे पढता हूँ, मुझे 'पंजाब-थिएट्रिकल्स' के उस 'जोकर' की याद आती है, जो बडे बड़े अक्षरों के साइनबोर्ड के नीचे एक ऊँची टेबिल पर, कार्नेट और ड्रम की ताल पर थिरकता हुआ दर्शकों को देख-देखकर मुँह बनाता, और अपने पौडर-चर्चित चेहरे के मुक्ताकार तबक को अपनी विचित्र मुख भंगियों द्वारा हिलाता रहता है। इस पद्य के साथ उस 'जोकर' का मेरी प्रकृति मे इतना घनिष्ठ संबंध हो गया है, जिसका भूलना मेरे लिये असंभव हो रहा है।

पंतजी सोचें, उन्हीं के सामने यदि कोई खड़ा होकर अधर-प्रवाल हिलावे, तो हँसेंगे या नहीं। इससे हास्य के सिवा कोई सौंदर्य तो नहीं मिल सकता।

यों दो बार प्रवाल का आना ही उनकी कविता में दोषकर हो गया है, परंतु यदि पहला प्रवाल छोड़ दिया जाय, तो दूसरा प्रवाल भी ऐसा नहीं कि भाव-चित्र का अच्छा निबाह कर सके।

यह सारा दोष 'हिलाते' का है। 'हिलाते' का प्रयोग ऐसे स्थलों में अच्छा नहीं होता। दो वाक्य देखिए—

"वे अधर-प्रवाल हिला रहे हैं"
"उनके अधर-प्रवाल हिल रहे हैं"

दूसरे वाक्य में सौंदर्य पहले वाक्य से कितना बढ़ गया है। पंतजी की इधर की कविता में एक जगह मैंने देखा—

"झलका हास कुसुम अधरों में
हिल मोती का-सा दाना।"

यहाँ हास फूलों के अधरों पर मोती के दाने की तरह आप ही हिलता है, हिलाया नहीं जाता, अतएव सुंदर है।

"बजा दीर्घ-साँसों की भेरी,
सजा सटे-कुच कलशाकार;
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर,
रोवों में पुलकित-प्रतिहार;
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बदनवार;
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं,
खोल सतत उत्सुक-दृग-द्वार।"

इस पद्य मे 'बजा', 'सजा', 'तान' आदि क्रियाएँ वैसी ही हैं। कलशाकार सटे कुचो को सजाना सौदर्य की अभिव्यक्ति में सहायक होता है, और स्त्रियो के लिये कुचो का शृगार करना प्रचलित भी है, इस दृष्टि से बुरा नही हुआ, परंतु दीर्घ साँसो की भेरी बजाना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यहाँ अवश्य 'ऊँटखाने का मुंशी' 'मुंशीख़ाने का ऊँट' नही हुआ, यह ज़रूर है कि पतजी नारी-सौदर्य के दिव्य भाव पर सफल नही हो सके। उनकी ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं—जिनमें दिव्य भाव की जगह बहुत साधारण भाव मिलते है—

"खैंच ऐंचीला - भ्रू - सुरचाप,
शैल की सुधि यों बारंबार,
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल-हार।
जलद-पट से दिखला मुख-चंद्र,
पलक पल-पल चपला के मार;
भग्न-उर पर भूधर-सा हाय!
सुमुखि! धर देता है साकार।"

यहाँ जब शैल की सुधि हरियाली का सुदुकूल हिलाती, झरनो का झलमल-हार झुलाती है, उस समय स्वर्गीय सौदर्य वेश्या के सौंदर्य में परिणत होता—बहुत हलका हो जाता है, जैसे कोई वेश्या दूसरे को मुग्ध करने के लिये वेश-न्यास कर रही हो। यहाँ यदि हार आप झूलता, दुकूल आप हिलता, तो सौदर्य दिव्य कहलाता। जलद-पट से मुख-चंद्र दिखलाना झरोखे से किसी चचला नायिका का झाँकना हो गया है—अच्छा होता, यदि उसी तरह जलद-पट से मुख-चद्र आप दिखलाई पड़ता।

सौंदर्य जिस ढंग का यहाँ चित्रित हुआ है, उसके प्रवाह में फ़र्क़ नही, कविता की दृष्टि से वह प्रथम श्रेणी की कविता हुई है, यह प्रत्येक

समालोचक स्वीकार करेगा। आर्ट के विवेचन से तो पंतजी ने कमाल कर दिया है। 'खैंच' और 'ऐंच', 'हिला' और 'हरियाली', 'झुला' और 'झरनों का झलमल', 'पलक' और 'पल-पल', अनुप्रासों की सार्थकता के साथ, अर्थ को उतना ही मधुर कर देते हैं।

अंतिम दो लाइनें अच्छी नहीं, कम-से कम 'साकार' को तो जरूर निकाल देना चाहिए। साकार यहाँ निरर्थक है, बल्कि अर्थ में एक कदर्थ लाता है।

'उच्छ्वास' मे जहाँ आया है—

"गिरिवर के उर से उठ-उठकर,
उच्चाकाक्षाओं से तरुवर;
है झाँक रहे नीरव-नभ पर,
अनिमेष, अटल कुछ चिंतापर !"

यहाँ निर्वाह अच्छा नहीं हुआ, पहाड के हृदय से उठकर पेड़ आसमान पर झाँकते हैं, ठीक नहीं, वाक्य ही असंगत है। आसमान की ओर झाँकते हैं, यह भी ठीक नहीं; झाँकने के लिये पहले तो एक झरोखे का चित्र चाहिए, जिसका इन क्रियो में अभाव है। फिर झाँकनेवाले को दृश्य से ऊपर रहना चाहिए, नीचे से ऊपर की ओर झाँका नहीं जाता; पेड़ नीचे हैं, आसमान ऊपर है, नीचे से ऊपर की ओर पेड़ क्या झाँकेंगे ? अपरंच, झाँकना चञ्चलता का द्योतक है, झाँकते समय पेड़ों को अनिमेष, अटल और चिंता पर बतलाना प्राकृतिक सत्य की प्रतिकूलता करना है। यदि कोई कहे, 'नभ पर' यानी 'नभ की गोद में रहकर', तो भी अन्यान्य विरोधों से संगति ठीक नहीं बैठती। अतएव ये पंक्तियाँ असफल हैं। इनके बाद पंतजी लिखते हैं—

"उड़ गया, अचानक, लो, भूधर;
फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर !
है टूट पड़ा भू पर अंबर !

धस गए धरा में सभय शाल !
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
यों जलद-यान मे विचर-विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल !"

पतजी शायद इन्ही पंक्तियों के संबंध में लिखते हैं—"इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमे निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वतो का सहसा बादलो के बीच ओझल हो जाना आदि-आदि अद्भुत रस का मिश्रण है।" पतजी को इन पंक्तियों मे 'अद्भुत-रस का मिश्रण' पहाड़ के लोगो के लिये अद्भुत-रस नहीं।

इन पंक्तियों मे अद्भुत-रस का परिपाक बराबर भूमि पर रहने-वालो के लिये अच्छा हुआ है; पर रस ऐकदेशिक नहीं होता।

पहले एक जगह मैंने लिखा है, मौलिकता का विवेचन आगे चल-कर करूँगा। यहाँ थोड़ी देर के लिये पंतजी की कविताओं की आलोचना स्थगित करता हूँ। पंतजी ने दूसरी-दूसरी जगहो से जो अच्छे अच्छे भाव लिए हैं, यह कहा जा चुका है कि इस तरह के भावापहरण के अपराध मे, बड़े-से-बड़े प्रायः सभी कवि दोषी हैं। जब कोई आलोचक ऐसे अपराध के कारण की जाँच करता है, तब उसे उस कारण के मूल मे एक प्रकार की कविता के ही दर्शन होते हैं। वह देखता है, जिन भावों को ग्रहण करने के लिये वह कवि पर दोषारोप कर रहा था, वे भाव कवि की हृदय-भूमि में बीज-रूप आप ही जम गए थे। उत्त-मोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रस-ग्राही कवि-हृदय में ही हुआ करती है। जिन भावों को वह प्यार करता है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से धुलकर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के होकर निकलते हैं। चोरी का अपराध लगाना जितना सीधा है, चोरी करना उतना सीधा नहीं। इस सत्य को

कोई जब चाहे, आज़मा सकता है। उदाहरण-स्वरूप, हिंदी के किसी प्रसिद्ध लेखक को किसी प्रसिद्ध कवि की कुछ 'क्तियाँ हज़म कर जाने के लिये दे दीजिए। मैं कहता हूँ, उन्हे सफलता हर्गिज न होगी। वे किसी तरह उन पंक्तियों को क़ै भले ही कर डाले, पर अपनी तरफ़ से वे एक भी स्वस्थ पंक्ति न लिख सकेंगे। यहीं कवि-हृदय की मौलिकता का आभास मिलता है। 'चीरा तो एक क़तरए-ख़ून निकला' को चरितार्थ करने वाले आजकल के छायावाद अंधकार मे बेलगाम घोड़ा छोड़कर गोल तक पहले पहुँचने के इच्छुक पा.. सवार कवियों की श्रेणी से अलग, पंतजी साहित्य के एक अलंकृत उज्ज्वल आसन पर स्थित हैं। उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दो मे एक अजीब जीवन आ गया है, जो साहित्य का ही जीवन है, जो किसी तरह भी नहीं मर सकता। उनकी आत्मा और साहित्य की आत्मा एक हो गई है। शब्दो को जिस सहृदय-दृष्टि से उन्होने देखा है, अपनी रुचि के अनुसार उसमे जो परिवर्तन किए है, वही उनकी मौलिकता है। जब मै पढ़ता हूँ—

"जननि श्याम की वंशी से ही
कर दे, मेरे सरस वचन;
जैसा-जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूँ अधिक मधुर मोहन।
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मंत्र-मुग्ध नत-फन;
रोम-रोम के छिद्रों से मा,
फूटे तेरा राग गहन।"

तब इन पंक्तियों मे एक साफ़ आइने की तरह मुझे पंतजी का हृदय दिखलाई पड़ता है। कहने का ढंग भी कितना मार्जित, कितना अच्छा! बिना कानवाले सर्प-साहित्यिक को नवीन युग का कवि

मुग्ध करना चाहता है, इसलिए कहता है, मेरे शब्दों को, मा, तू वशी की सुरीली तान की तरह मधुर कर, जो विना कान वाले साँप को सहसा मत्र-मुग्ध और अवनत-फन कर दे। अपने लिये भी कहा है, व मुझे वशी की तरह जितना ही छेड़ें, मैं और मधुर बोलूँ। निसंदेह, हृदय के एसेस के विना केवल हाथ की सफाई दिखलानेवाला कवि इतने सुंदर ढंग से नहीं कह सकता, और यही पत जी की मौलिकता है। एक ही अर्थ को अनेक वाक्यों मे, तरह-तरह के शब्दो में प्रकट करने की जो शक्ति कवि के लिए आवश्यक हैं, वह भी पंत जी मे है। वह कुशाग्र-बुद्धि और नाजुक-अंदाज कवि हैं। उन की इस पंक्ति से—

'उर के दिव्य नयन, दो कान'

जान पड़ता है, हृदय की पहचान उन्हे हो गई है। उन्हें साहित्यिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहनी चाहिये। यदि कोई इससे इनकार करेंगे, तो इस तरह वे साहित्य-महारथी स्वय ही अपनी प्रतिष्ठा घटाएँगे। पंत जी की सहृदयता उन्हे उनका अधिकार दिलाएगी। पतजी के मंडन मे मैं बातो-ही बातो बहुत बहस कर चुका हूँ, जिसे मेरे मित्र जिनसे मुकाबला आन पड़ा है, अच्छी तरह जानते हैं। प्रायः अधिकाश लोगों ने 'प्रभात' को स्त्रीलिंग मानने के संबध में प्रश्न किया। मैं सबसे यही कहता गया कि भइ, उसके पीछे एक 'श्री' अपनी तरफ़ से जोड़ लो, अगर तुम्हे यह खटकता है। कविता खुद स्त्रीलिंग है। उसकी स्त्री सुकुमारता में आकर्षण विशेष रहता है। पाठक प्रायः खिंच जाते हैं। भाव को रूप देने के वक्त कवि जिस रूप से प्रभावित रहता है, प्रायः वही रूप वह भावों को देता है। कोमलता लाने के लिये स्त्री-रूप की कल्पना से बढ़कर और कौन-सी कल्पना होगी? भावों के अलावा पतजी ने अपने को भी स्त्री-रूप में कल्पित कर लिया है। यह भी उनकी मौलिकता ही है। हिंदी के

निष्ठुर शब्दों को इसीलिये वे इतना सरस कर सके हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मौलिकता के साथ नवीन युग की प्रतिभा भी सम्मिलित है।

भाषा की प्रथम अवस्था के कारण इतने कोमल होकर भी 'पल्लव' मे कही-कहीं जो परिवर्तन पतजी ने किए हैं, उन्हें देखकर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि अब तक शब्दो के कोमल रूपो पर उनकी दृष्टि स्थिर नही बैठ सकी; क्योंकि अपने ही गढ़े हुए स्वरूप को, दुबारा पल्लव में छपने के समय, उन्होंने बिगाड दिया है। एक उदाहरण पेश करता हूँ। सरस्वती मे छपने के समय उनकी 'स्वप्न'—कविता मे एक जगह था—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ में
यह किस सुखमा का संसार
विरल इंद्र-धनुषी-बादल-सा
बदल रहा है रूप अपार ?"

पल्लव में छपा है—

"नयनों के लघु-नील-व्योम मे
अलि किस सुखमा का संसार
विरल इंद्र-धनुषी-बादल-सा
बदल रहा निज रूप-अपार ?"—

"नयन-नीलिमा के लघु नभ मे" जितना अच्छा है, "नयनों के लघु-नील-व्योम में" उतना अच्छा नही, यद्यपि दोनों के अर्थ में फ़र्क कोई नहीं। 'सरस्वती' मेरे पास नही है, बाद का जो परिवर्तन है, वह पहले ही-सा रक्खा गया है या परिवर्तन के रूप में, मैं ठीक तौर से न कह सकूँगा। 'है' के प्रति जैसी उदासीनता 'पल्लव' के प्रवेश में पंतजी ने प्रकट की है, जान पड़ता है, उसे निकालने के लिये 'पल्लव' में छपने के समय उन्होंने उस जगह 'निज' बैठा दिया है। 'यह' की जगह

'अलि'-शब्द आया है। इनसे विशेष कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बहुत बारीक विचार करने पर प्रथम पद्य में सरसता ज्यादा मिलती है, क्योंकि उसमे एक स्वाभाविक विकास है। इस तरह के और भी बहुत-से परिवर्तन पंतजी ने किये हैं, जो प्रायः बिगड़ ही गए हैं। उनके आँसू में पहले यह था—

"वर्ण-वर्ण है उर की कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि की दशन,"

फिर 'पल्लव' मे छपा—

"वर्ण-वर्ण है उर का कंपन,
शब्द-शब्द है सुधि का दंशन,"

पहले 'कंपन' और 'दशन' स्त्रीलिंग में थे, फिर पुंलिंग में हो गए। मुमकिन है, परिवर्तन के समय पंतजी में पुरुषत्व का जोश बढ़ गया हो, वह अपनी स्त्री-सुकुमारता भूल गये हो। मुझे तो पहला ही रूप अच्छा लगा है। इन उद्धरणों से जान पड़ता है कि अभी वह एक निश्चित सिद्धात पर नही पहुँचे। अथवा अभी उन्हे कभी यह अच्छा और कभी वह अच्छा लगता है। मौलिकता के प्रश्न पर बारीक छान-बीन होने पर, निश्चय है, ब्रह्म ही हर सृष्टि के मूल मे दृष्टिगोचर होगा; तथापि विकास के विचार से, पतजी का विकास हिंदी-साहित्य में बड़ा ही मधुर और बड़ा ही उज्ज्वल हुआ है। जब मैं पढ़ता हूँ—

"कामनाओं के विविध प्रहार
. छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार;
चूम सुख-दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार!"—

ब्रह्मवाद की एक उत्कृष्ट कविता मेरी नज़र से गुजर जाती है, और मैं इसके कवि को उसी क्षण हृदय का सब कुछ दे डालता हूँ। 'पल्लव' में छपी हुई ंतजी की प्रायः सभी कविताओं मे जीवन है, परंतु उनमें 'परिवर्तन' मुझे ज्यादा पसंद है। मेरे विचार से 'परिवर्तन' किसी भी बड़े कवि की कृति से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।

ये बातें मैं तब कहता हूँ, जब पंतजी की ही तरफ़ से उनकी आलोचना करता हूँ। जब मैं अपने विचार भी उनकी कृति मे लड़ाता हूँ, तब उसकी प्रायः प्रत्येक पंक्ति मे मुझे कुछ-न-कुछ अनार्यता मिल जाती है। इसका असर मुझ पर नहीं पडता। जहाँ तक अच्छी चीज मिलती है, वहाँ तक 'गुण-दोष-मय' विश्व के दोषों से बचना ही श्रेयस्कर है। एक बार पंतजी ने मुझे लिखा था—"आप केवल मेरी तारीफ़ किया करते हैं, मेरे दोषो से मुझे परिचय नहीं कराते।" उस समय कुछ साधारण दोषो से उल्लेख कर मैंने उन्हे लिखा था, आपकी कविता से मुझे आनंद मिलता है, अतएव आनंद को छोड़ निरानद के विषय को चुनना प्रकृति के खिलाफ़ हो जाता है— प्रकृति कभी आनंद छोडना नही चाहती। जिन लोगो को पंतजी की कविता पसद नही आई, जो लोग कई साल तक 'निराला' को गालियाँ देने में ही अपने पत्र की सफलता समझते रहे हैं, उनका बहुत बड़ा दोष नहीं, क्योंकि उनकी आत्मा ने उन्हें जैसी सलाह दी, उन्होने किया। अस्तु, यहाँ मैं केवल यही दिखलाना चाहता हूँ कि किस तरह हरएक कृति मे विकार रहता है—चाहे वह कालीदास की हो या श्रीहर्ष की, रवींद्रनाथ की हो या ईट्स की अथवा पंतजी की हो या 'निराला' जी की,·अवश्य कबीर की या तुलसी की नही,—बाल्मीकि की या व्यास की नही, जिन्होंने आत्म-दर्शन के पश्चात् शुद्ध और प्रबुद्ध होकर 'एकमेवाद्वितीयम्' की आज्ञा मानकर रचनाएँ की हैं। मानवीय सुंदर कृति में विकार प्रदर्शन का उदाहरण रवींद्रनाथ और कालिदास से न देकर पंतजी को ही

उद्धृत करना उचित है। उसी 'परिवर्तन' में एक जगह है—

"सकल रोओं से हाथ पसार,
लूटता इधर लोभ गृह-द्वार।"

ज़रा साहित्यिक निगाह से देखिये, 'लोभ' के साथ 'लूटने' की क्रिया कितनी असंगत है। 'लोभ' बेचारे में लूटने की शक्ति कहाँ?—वह तो हड़पता है, जटता है, ठगता है, धोखा देता है, ऐंठता है, पर लूटता नही, और अगर लूटता है, तो वह 'लोभ' भी नही। 'लोभ' की ललचीली निगाह में लूटने का विप्लव, वह शक्ति कहाँ? फिर 'हाथ-पसार' कर लूटा नही जाता, भीख जरूर मागी जाती है। यदि कोई कहे, 'लूटने' का अर्थ 'जटना' या 'ऐंठना' भी होता है, व्यंग्य में, जैसे लुट गए या ठगा गए, उनसे यह एतराज़ है कि इस तरह तमाम कविता का बीसवी सदीवाला जोश गायब हो जाता है—तमाम कविता जैसे बिना मेरुमूल के शिथिल हो गई हो। व्यंग्यार्थ के लेने से फिर वह भी व्यंग्य-चित्र की ही तरह दिखने लगती है। इस तरह की व्यंजना हिंदोस्तानी दिमाग़ के बेचारे वृद्ध साहित्यिक क्यों समझने लगे? उनके सनातन-धर्मी गले की मँजी हुई परिचित रागिनी में ये लड़ियाँ आती ही नहीं—बेचारे करें क्या?

यह कहा जा चुका है, यदि पंतजी की मौलिकता एक शब्द में कही जाय, तो वह मधुरता है। हिंदी मे मौलिकता का बहुत बड़ा रूप उनके अंदर से नही प्रकट हुआ, कारण छानबीन मे मौलिकता का बहुत बड़ा हिस्सा—प्रायः सर्वांश—दूसरे के ही हक़ में चला जाता है; परंतु फिर जो कुछ भी उनके लिये रह जाता है, निहायत सुंदर, बिलकुल उन्हीं का है। पहले मेरा विचार था कि 'पल्लव' के 'प्रवेश' के चुने हुए कुल विषयों पर लिखूँगा। इस तरह करीब-करीब ३० विषय मैंने चुने थे। परंतु प्रायः आठ ही विषयों में लेख ने इतना बड़ा

आकार ग्रहण कर लिया है। अब कुल विषयों पर लिखकर अकारण श्रम करने से जी ऊब रहा है। इस आलोचना मे जहाँ-जहाँ मुझे पंत जी का विरोध करना पड़ा है, उस-उस स्थल के अप्रिय सत्य के लिये मुझे हार्दिक दुःख है। मैं जानता हूँ, एक मार्जित सुहृद् पर मैंने तलवार चलाई है। आलोचना लिखने से पहले मेरे बिलकुल दूसरे विचार थे। दोष-दर्शन के लिये कभी किसी को प्रयत्न नही करना पड़ता, कृति के सामने आते ही गुण और दोष भी सामने आजाते है। पहले एक बार और पंतजी के संबंध मे मैंने 'मतवाला' में लिखा था, उस समय भी उनके दोषो के रूप मेरे सामने आ चुके थे, परंतु मैने उनका उल्लेख नहीं किया। पं० बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' को अवश्य स्मरण होगा, जब 'भावो की भिड़ त' मे 'भावुक' महाशय ने मेरी चोरिया दिखलाई थी, उसके बाद जब 'नवीन' जी से मेरी मुलाकात हुई, पंतजी के संबध मे मैंने उनसे क्या कहा था। यह साहित्य है, यहाँ कमजोरियो का बहुत स्पष्ट उल्लेख मेरे विचार से अनुचित है, उसी तरह कहीं कुछ भलाई करके इनाम की प्रार्थना भी हास्यास्पद है। अत-एव, बहुत-सी बातों को मुझे दबा रखना पड़ा। यहाँ इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'पल्लव' में मेरी कविता पर कुछ लिखने से पहले उचित था कि पंतजी मेरी भी सलाह ले लेते, जब कि वह मेरे मित्र थे, और इस सलाह से उनके व्यक्तित्व को किसी तरह नीचा देखना पड़ता, यह तो मैं अब तक भी सोचकर नहीं समझ सका। व्यावहारिक ससार में यद्यपि १००० मे ६६६ इस तरह के दृष्टात मिलते हैं कि लोग और सब तरह की कमजोरियाँ स्वीकार करने के लिये तैयार हैं, परंतु बुद्धि की स्पर्द्धा में कोई भी अपने को घटकर नही समझता, चाहे वह महा-मूर्ख ही क्यो न हो, तथापि, पंतजी जैसे मार्जित मनुष्य से मित्रता का एक निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे पहले यह आशा न थी। उन्हें कमज़ोर सिद्ध करने के अपराध में मैं उनसे क्षमा-प्रार्थना

करता हूँ, यद्यपि यह अपराध कवियों के लिये साधारण अपराध है। उनके अपराध की गुरुता को मैं सिर्फ इसलिये नहीं सहन कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होंने बेकसूर 'निराला' को मारा, और अपने संबंध में सब कुछ पी गए। यह सब मुझे निहायत असंयत अन्याय के रूप मे दिखलाई पड़ा। मैं अपनी कविताओं के संबंध में काफी इज़हार दे चुका हूँ। इधर पंतजी ने लिखा था, उनके कुछ मित्र मेरी भी आलोचना करना चाहते हैं। अच्छा हो, यदि इस कार्य का भार पंत जी स्वयं उठाने का कष्ट स्वीकार करें। तीरों को तूण में रखकर अकारण बोझ लिए हुए फिरने से तूण को खाली कर देना अच्छा होगा। इस विचार से मैं अपने संबध में चुप रहना उचित समझता हूँ।

'परिवर्तन' को छोड़कर पतजी की अन्यान्य कविताएँ जो 'पल्लव' मे आई हैं, जितनी मधुर हैं; उतनी ओजस्विनी नहीं। जान पड़ता है, बाल-रचनाएँ हैं। पंखड़ियों के खोलने की चेष्टा की गई है। हिंदी की मधुरता के साथ इस समय विशेष ओज की भी जरूरत है। विश्व-साहित्य के कवि-समाज पर उसी तरह के कवि का प्रभाव पड़ सकता है, जो भावना के द्वारा मन को आकर्षक रीति से उन्नत-से-उन्नत विचार कला के मार्ग से चल कर दे सके।

सुमन-हास में, तुहिन-अश्रु में
मौन-मुकुल, अलि-गुंजन में;
इंद्र-धनुष में, जलद-पंख में
अस्फुट बुद्‌बुद् क्रंदन में;
खद्योतों के मलिन-दीप में
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में;
एक भावना, एक रागिनी
एक प्रकाश मिला मन में।

इन पंक्तियों में जिस एक ही भावना, रागिनी तथा प्रकाश को कवि अनेक स्थलों को मधुरता में व्यजित करना चाहता है, वह प्रकाश उन स्थलों के सौंदर्य के बोझ से जैसे दबा जा रहा हो। जिस एक प्रकाश को कवि अन्य वस्तुओ तथा विषयों पर व्यंजित कर देना चाहता है, लड़ियो मे उस प्रकाश की अपेक्षा सजावट मे शक्ति ज्यादा आ गई है, पाठक सजावट में इतना झुक जाता है कि फिर प्रकाश देखने के लिये वह उठ नही सकता। साफ जान पडता है कि कवि स्वयं जितना 'अस्फुट-बुद्बुद-क्रंदन' मे लीन है, उतना 'प्रकाश' मे नही, इसीलिये पाठक भी उधर ही झुकते हैं। यहाँ प्रधानता उस 'एक प्रकाश' की है, खद्योतों के मलिन 'दीप' की नही—अतएव व्यजना उसी की जबरदस्त चाहिये थी।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया;
बाले! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को।"

वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल'-जाल से छूटकर 'द्रुमो की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूटकर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे, तो 'द्रुमो की मृदु छाया' मे क्या करने गए? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी?—प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया?—प्रकृति में 'बाला' से मधुर और क्या होगा?—'बाला' को छोड़कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन हुआ है—उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ

गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड़कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह उस प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिए। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हों, वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसद होगी? इस कविता के अन्यान्य पद्य भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका ले जाते हैं। कवि को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कला के विकास का मार्ग क्या है। कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती। कला ही कवि की प्रेयसी और अभीष्ट देवी है। उसे कवि जिस दृष्टि से देखेगा, साहित्य में वही छाप पड़ेगी। उसे छेड़-छाड़ तभी तक अच्छी लगती है, जब तक उसका भी उस छेड़-छाड से मनोविनोद होता है। यदि उससे ज़बरदस्ती की गई, तो साहित्य मे उस बलात्कार की ही छाप पड़ेगी। उस जगह साफ जान पड़ेगा कि यह कविता के रूप में एक अस्वाभाविक और विकृत चेष्टा है।

परतु जहाँ पंतजी लिखते हैं—

"कभी उड़ते-पत्तो के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार;
बढ़ाकर लहरो से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।"

यहाँ कला का विकास हद दर्जे को पहुँच गया है। पहले जिन बातो पर एतराज़ था, यहाँ वही बातें विकसित स्वरूप धारण करती हैं। उड़ते पत्तों को देखकर सुकुमार या प्रियतम की याद आना निहायत स्वाभाविक, निहायत आकर्षक और अत्यत सरस है, इतना सरस कि जैसे प्रियतम ही मिल गए हों। फिर लहरों के छोटे-छोटे हाथों के इशारे जब वही प्रियतम अपनी नवोढ़ा प्रेयसी को उस पार बुलाते हैं, तब

उनकी प्रेयसी के साथ कविता भी असीम मे विलीन हो जाती है। प्रियतम की याद आने के बाद लहरो को देखकर प्रिय का ही हाथ बढ़ाकर बुलाने का इशारा समझना बड़ा ही मधुर हुआ है—फिर बुलाना भी उस पार। यह अभिव्यक्ति सौंदर्य के साथ असीम की ओर हुई है, अतएव निर्दोष और सहृदय-संवेद्य है।

"दिवस का इनमें रजत-प्रसार,
उषा का स्वर्ण सुहाग;
निशा का तुहिन-अश्रु-शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग;
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुंदरता की आग।"

पल्लव के प्रति कवि की ये उक्तियाँ कला के प्राणो से मिलकर एक हो गई हैं। परंतु दिवस, उषा, निशा और साझ का क्रम ठीक न रहने से कारीगरी का आभास मिलता है, जो स्वाभाविक वर्णन का बाधक हो जाता है। कला भी कारीगरी ही है, परंतु स्वाभाविक। यहाँ असीम के संबंध की कोई बात नही। केवल कला ही अपना सौंदर्य प्रदर्शन करतो है।

पंतजी 'है' को कविता से निकाल देने के लिये कहते हैं। कहते है, इसे माया-मृग समझकर कविता की सीता के पास न आने देना चाहिए। परंतु सब जगह यह बात नहीं। करुणा के स्थल पर 'है' ही एक हृदय तक धंसकर उसे कमज़ोर करता और करुणा को उभाड़ता है—जैसे—

"कहाँ है उत्कंठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !

तुम्हे, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं, यह हृदय हार !!!
× × ×
कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका, अगम आकाश को
कौन समझ सका उदधि का गान है ?
है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है !
निरपराधो के लिये भी तो अहा,
हो गया संसार कारागार है !"

पंतजी की एक कविता 'विश्ववेणु' शीर्षक है, उसी में एक जगह है—

"हर सुदूर से अस्फुट-तान,
आकुल कर पथिकों के कान,
विश्ववेणु की-सी झंकार,
हम जग के सुख-दुखमय गान
पहुँचाती अनल के द्वार।"

जिस कविता का शीर्षक 'विश्ववेणु' है, वहाँ पाठक पहले ही से यह अनुमान कर लेता है कि कवि अब विश्ववेणु ही पर कुछ लिखेगा। फिर जब कविता में 'हम' का प्रयोग आता है, तब 'हम' को कवि के विश्ववेणु का ही सर्वनाम निश्चय किया जाता है। 'विश्ववेणु' का खुलासा अर्थ है संसार की मधुरता, जो उसके ज़र्रे-ज़र्रे में व्याप्त है। उद्धृत पद्य मे "विश्ववेणु की-सी झकार [हैं हम]" यानी हम [विश्ववेणु] विश्ववेणु की-सी झंकार हैं—इस तरह का दोष आ जाता है। शीर्षक विश्ववेणु देकर उपमा मे फिर विश्ववेणु का लाना ठीक नही हुआ।

माधुर्य में पंतजी की 'अनंग', 'स्वप्न', 'वीचि-विलास', 'छाया' और 'मौन-निमंत्रण' आदि कविताएं हैं, जो अच्छी हैं। कहीं-कहीं इनमें भी चमत्कार हद दर्जे को पहुँच गया है।

"गाओ, गाओ, विहग-बालिके !
तरुवर से मृदु-मंगल-गान,
मै छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर मे कर लूँ स्नान;
हाँ सखि, आओ, बाँह खोल, हम
लगकर गले जुड़ा ले प्राण,
फिर तुम तम मे मैं प्रियतम मे
हो जावे द्रुत अंतर्धान !"

× × ×

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर-उर के-से मृदु-उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न-जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !
क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब बात
सिंधु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल-संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर कौन
न-जाने, मुझे बुलाता मौन !

× × ×

अलि ! क्या कहती है प्राची से

फिर उज्ज्वल होगा आकाश
पर, मेरे तम-पूर्ण हृदय मे
कौन भरेगा प्रकृत-प्रकाश ॥

इन पंक्तियो में सौदर्य के सहस्र दल को अपनी प्रतिभा के सूर्य से पतजी ने पूर्ण प्रस्फुट कर दिया है। मैंने सुना है, लोगों की दृष्टि से पतजी गिर गए हैं। मै जानता हूँ, यह उठने-गिरने का इंद्रजाल क्षणिक है। जो लोग केवल गिराने मे दूसरो की सहायता के लिये उत्सुक रहते हैं, वे इस युग के मनुष्य नही। दुःख है, हिंदी-साहित्य मे ऐसे रत्न के भी जौहरी नही। पत्रों के संपादकों और वृद्ध साहित्यिको की हास्यक्रूर वक्र दृष्टि से ईश्वर साहित्य की रक्षा करे। ये लोग तीन पुश्त तक दाँव चुकाने की हिंसा धारण कर सकते हैं।

परिवर्तन के बाद मेरी दृष्टि में 'उच्छ्वास' और 'आँसू' का स्थान है। 'पल्लव' में यद्यपि यह नही, फिर भी पंतजी की 'प्रथम रश्मि' भी मुझे बहुत पसद आई। उसमे अकारण विशेषणों का लदाव नही, और प्रकाशन बड़ा ही जबरदस्त है।

"कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज,
हाय! क्या गंगा-जल की धार!!
हृदय! रो, अपने दुःख का भार
हृदय! रो, उनको है अधिकार!
हृदय! रो, यह जड़ स्वेच्छाचार,
शिशिर का-सा समीर-सचार!!

× × ×

तुम्हारे छूने मे था प्राण,

संग में पावन गंगा-स्नान ;
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरो का गान !"

इन पंक्तियो मे कितनी स्वाभाविकता है ! जान पड़ता है, ये हृदय के शब्द हैं। इसीलिये इतने सहज और इतनी तीक्ष्ण चोट करने वाले हैं। 'वाणी मे' त्रिवेणी की लहरो का गान' वर्तमान हिंदी के हृदय का गान है। 'सग मे पावन गंगा-स्नान' से जान पडता है, दो ज्योतिर्मयी मूर्तियो—दो किरणो का मिलाप हो रहा है। 'जड-स्वेच्छाचार' के उदाहरण मे 'शिशिर का-सा समीर-संचार' भी लाजवाब है।

'बादल' कविता में है।

"जलाशयों मे कमल-दलो सा
हमे खिलाता जब दिनकर ;
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर।
लघु लहरों के चल-पलनों में
हमें झुलाता जब सागर।
वही चील्ह-सा झपट, बाँह गह
हमको ले जाता ऊपर।

× × ×

फिर परियो के बच्चों - से हम
सुभग-सीप के पंख पसार
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इंदु के कर सुकुमार।
अनिल-विलोड़ित गगन-सिंधु मे
प्रलय - बाढ़ - से चारों ओर ;

उमड़ - उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर।
बुद्बुद-द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम;
हम विशाल - जबाल - जल - से
बहते है अमूल अविराम।

× × ×

व्योम-विपिन मे जब वसन्त-सा
खिलता नव - पल्लवित प्रभात
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात।
उदयाचल से बाल-हंस फिर
उडता अंबर मे अवदात।
फैल स्वर्ण-पंखो से हम भी
कहते द्रुत मारुत से बात।"

इन पंक्तियो मे पंत जी की सौंदर्य-पर्यवेक्षण-कला की यथेष्ट सूक्ष्मता प्रकट हुई है। पतजी मे सब से जबरदस्त कौशल जो है, वह शेली की तरह अपने विषय को अनेक उपमाओ से सवारकर मधुर-से मधुर और कोमल-से-कोमल कर देना। भावना की प्रबल जागृति तो नही, परंतु सौंदर्य के मनोहर रूप जगह-जगह पंक्ति-पंक्ति मे मिलते हैं। रूपक और अलंकार बाँधना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही हो।

—:०:—

राष्ट्र और नारी

संस्कृत-साहित्य मे जो विधाता की आदि शृंगार-सृष्टि, वन-पादपो के पाद मूल मे खड़ी सखियो के साथ आलवालों मे जल सींचकर कौतुकालाप करता हुई, महाकवि की कल्पना की उज्ज्वल प्रतिमा, शकुन्तला वन्य वल्कलो से अपने पोन-पुष्ट भरे उभरे हुए नवीन यौवनागो को ढके, सलाज-सप्रेम दृष्टि से चतुर्दिक् चंचल हेरती हुई मिलती है। वह केवल नाटक की प्रधान नायिका या पुराण की कल्पित पात्री ही नहीं, किंतु वह तत्कालीन राष्ट्र की सर्वोत्तम आदर्श नारियो की ज्योतिर्मयी साहित्य की प्रधान अभिनेत्री है। सस्कृत साहित्य मे दूसरी शकुंतला नहीं। उसके सरस कोमल-मुधुर उपाख्यान के स्वर्गीय प्रेम का रसस्वादन करने के साथ ही साथ हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह तपोवन की तपस्या, प्रेममयी नारी शिरोमणि शकुन्तला ही उस समय के एकच्छत्र सम्राट् भरत की जन्म-दात्री थी। भारत की साम्राज्ञी, भारत की सम्राट् माता शकुंतला के चरित्र में भारत-राष्ट्र की आदर्श नारियों को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमे एक ही साथ अपार रूप तथा अविचल तपस्या, एकनिष्ठ पतिपरायणता तथा आश्चर्यकर ओज, एक ही देह की द्युति में लवण्य तथा कठोर संयम की विद्युत-शिखा, अपागों में संमोहनास्त्र तथा अपार धैर्य और शाति मिलती है। प्रेमशृंगार जितना ऊँचा, त्याग भी उतनी दूर तक समातराल रेखा की तरह खिचा चलता हुआ। यह तत्कालीन भारत राष्ट्र की कल्याणि नारी मूर्ति है, जिसे देखकर कामनाएँ आप ही में मुरझाकर मर जाती है—शाति के रूप में स्वर्गीय सुख का अनर्गल प्रवाह बह चलता है।

आज जो अतृप्त उद्दाम वासनाएँ विषय के आसन पर बैठने बिठाने के लिये हमारे राष्ट्र की शिक्षित महिलाओं को सदा ही दंश दे रहीं हैं, जिनके ज़हर से उनका स्वर्णोज्ज्वल शृंगार-शरीर प्रतिदिन स्याह पड़ता जा रहा है, इसका कारण वास्तव मे यह है कि आवश्यकताओं की पूर्ति के विषद उपाय को ही वे भूल गई हैं। वे इतना बहिर्मुख तथा दूसरे राष्ट्रों की ऐश्वर्यवती महिलाओ के रूप-रँग, हाव-भाव, केश-वेश आदि की तरफ बढ़ी हुई हैं कि उन्हे अपनी आत्मा की ज्योति की तरफ देखने का अवकाश ही नही मिलता। आईने मे अपने ही चित्र को वे दूसरी स्त्रियों के चित्रों मे कल्पित कर देखती हैं, और उस मानसिक आदर्श से बहुत पीछे रहने के कारण अपने अम्लान रूप के पुष्प को नही पहचान पाती, बल्कि उसे देखकर पाला की मारी हुई फूली डाल की तरह मुरझा जाती है। यह आत्मिक दैन्य है. जहाँ दृष्टि रूप पर नहीं, उसके साधनों पर पडती है, जहाँ अपने ही साथ राष्ट्र की स्वाधीन सत्ता स्वप्न के छाया-चित्रो की तरह विलीन हो जाती है, और निद्रा के क्रमशः प्रगाढ़ होते हुए स्तब्धाधकार पर सत्य का भान होने लगता है। मरीचिका सत्य नहीं, सत्य जल ही है, और तृष्णार्थ के लिये आवश्यक भी वही है; पर मरीचिंका की ज्योति, रम्यता तथा आकर्षण अपार अतुल है। तृष्णा की सताई हुई आत्मा मे क्षणिक धैर्य के आए बिना मरीचिका की माया प्रत्यक्ष भी नही होती। वह उसी के पीछे भटकना अपना उद्देश समझती है।

अभी उस दिन लखनऊ मे, नारियों के समाज मे, एक नेता ने रूप तथा वस्त्रों पर भाषण करते हुए कहा—आप लोगो में वे आँखें होनी चाहिएँ, जिनमें रूप के सच्चे मूल्य की पहचान हो। अब विदेशी वस्त्रो से सौन्दर्य बढ़ता नही, बल्कि सुंदरता घट जाती है, जैसे रूप को कलंक स्पर्श कर रहा हो। इतना सुनते ही खद्दर की साड़ी से

सजी हुई एक किशोरी, प्रभात की ज्योतिर्मयी तरंग की तरह, अपने अल्प सज्जित रूप की तरुण लहरों से उमड़ पड़ी। वहीं ससार-प्रसिद्ध भारत की आदर्श राष्ट्र-अभिनेत्री भी बैठी हुई थी। उनके अधरो के पल्लव अंधकार से ढक गए। उनकी बेशकीमत विदेशी सूत की जरीदार रेशी साड़ी भी अपनी रजत-श्वेत द्युति से उस अंधकार को दूर नहीं कर सकी। उस तरुणी बालिका की अदम्य द्युति राष्ट्र की आत्मा की ज्योति थी, वहाँ प्राणो का प्याला अपने अपार रूप के गर्व से उस समय उसके लिये ऊपर तक भरकर कुछ छलक गया था, जिसकी प्रभा से सभास्थल कुछ काल के लिये तड़ित-हत, चकित, स्तंभित रह गया था। उस अपराजित खिली हुई रूप-राशि मे थोडी देर के लिये राष्ट्र नारी की अभाव-शून्य अपनी ही मौलिकता से अस्वर्गीय छवि आ गई थी। इसी छवि की स्थाई प्रतिष्ठा देश की वर्तमान महिलाओ में हो, तो वे अपनी आत्मा की शक्ति तथा सौंदर्य से परिचय प्राप्त कर सकती हैं।

इतनी ही सुंदरता राष्ट्र की नारियो के रूप का सोलहो शृंगार नही, क्योंकि वस्त्र बाह्य भूषण ही है। आत्मा को अलकृत करने के लिये उन्हे आत्मिक भूषणो की आवश्यकता है। यहाँ आता है शिक्षा तथा संस्कृति का प्रश्न। यही आत्मा के स्थायी प्रकाश हैं, जिनके खुलने पर राष्ट्र के अज्ञान के कारण होने वाले छल छिद्र तथा उत्पात-पीडन अपने फ़ैलाए हुए माया के अंधकार मे अपने को छिपा न सकेंगे, वे पाप मुख प्रकट हो जायेंगे। फिर उनके तिरस्कार के लिए देर न होगी। ज्ञान कभी भी पराधीन नहीं रह सकता। बल्कि यदि एक ही शब्द में स्वाधीनता की परिभाषा की जाय, तो वह ज्ञान ही होगा। यह ज्ञान राशि भी यदि हर तरफ से हमारे राष्ट्र की नारियों को पराश्रित कर रक्खे, तो उनके हृदय से निकला हुआ स्वतंत्रता का स्रोत भी पर-राष्ट्र-सागर-वाही होगा, उसका प्रवाह कभी भी अपने

ज्ञान के महासागर की ओर नहीं हो सकता । यह दार्शनिक सत्य है हमारा अभिप्राय यह है कि हम अपने राष्ट्र की महिलाओं के लिये चाहते हैं, वे दूसरों को अपनी आँखों से देखें, अपने को दूसरों की आँखों से नहीं। और, यह उपयोग सार्वभौमिक रूप से किया जाय, ताकि फिर एक बार राष्ट्र की नारियाँ पालनों पर बच्चों को झुलाते हुए, "त्वमसि निरंजन:"—जैसे शिशु-सुप्तिगीत गावें, और बालक नवीन यौवन के उन्मेश में सहस्र-सहस्र कंठों से कह उठे—"न मे मृत्यु-शंका, न मे जाति भेद: ।"

रूप और नारी

आकाश की आत्मा सूर्य का खुला हुआ प्रकाश ही पृथ्वी के ससीम सहस्रो पादपो के अखिल जीवो मे रूप की कमनीय काति खोल देता, भावना को अपार्थिव एक स्वर्गीय कुछ कर देता, भीतर से उभाड़कर भूमा के प्रशस्त ज्योतिर्मंडल में ले आता है। उस स्वतंत्र प्रकाश के स्नेह-स्पर्श से सुप्त प्रकृति की तद्रा छुट जाती, उसके सहस्रो रूप अपनी लाख-लाख आँखों से अपने ही विभिन्न अनेक अम्लान चित्रो को प्रत्यक्ष करते हैं, हृदय के अंधकार की अर्गला, जिसके कारण प्रकाश-पुंज प्रवेश नहीं कर पाता, खुलकर गिर जाती, ज्योति का जगमग प्रवाह, जो चारो ओर बहता हुआ सृष्ट जीवो की स्वाभाविक स्वतंत्रता का स्रोत खोलता फिरता है, हृदय मे भर जाता है। मोह का मंत्र-मुग्ध आवेश कट जाता, पुलकित हो हृदय, अपने हलके ऐश्वर्य से प्रसन्न, खिल जाता है, उसी तरह, जैसे ज्योति के एक ही लघु चुंबन से पुष्पो के प्राण खुल जाते, पल्लव प्रसन्न हो हिलने-डोलने, झूमने घूमने लगते हैं।

यह ज्योतिःप्रवाह अरूप है। जड़ों मे यह चेतन-संयोग ही गति है। प्रत्येक पद पर इसका अज्ञात स्पर्श जीव-जग करता रहता है, अन्यथा दूसरा चरण उठ नहीं सकता, उसे अपनी सत्ता का निश्चय नहीं हो सकता। वह वही निर्जीव प्रस्तर की तरह अचल है। उसमे स्वतः विचरण की शक्ति नहीं, पृथ्वी के साथ ही उसे अलक्ष्य के इंगित से महाकाश की परिक्रमा करनी पड़ती है। जीव को हर साँस में वह स्पर्श मिलता है।

साहित्य मे इस अरूप की स्वतत्र सत्ता को नारियों मे स्थिर रूप दिया गया है। कलाविदो ने वही पुरुष और प्रकृति का सौहार्द, दोनो

का अपार प्रेम, निरतर योग देखा। आकर्षण दोनो के सभोग-विलास मे ही है, वह और अच्छा जब एक ही आधार में हो। यही बीज-मंत्र है, जिसका जप कर उन्होंने नारियो के अगणित-अपार रूपो मे सिद्धि प्राप्त की। ये सिद्ध रूप परवर्ती काल के साहित्य की आत्मा मे प्राणों का प्रवाह भरते गए है। बाह्य महाशून्य की चेतन-स्पर्श से जगी हुई असंख्यो रूपसी-अप्सराओ की तरह ये साहित्य की पृथ्वी पर चपल-चरण, नम्र, शिष्ट, भिन्न-भिन्न अनेक प्रकृति की श्री-शृंगारमयी, रूप के ऊषा-लोक मे अपलक ताकती हुई, लावण्य की ज्योति से पुष्ट-यौवना युवती, कुमारिकाएँ हृदयशून्य के चेतन-स्पर्श से जगकर उठी हुई हैं, जो मूर्त बाह्य रूप-राशि ही की तरह अमर हैं, जिनसे बाह्य स्वतंत्रता की तरह अपार आतरिक स्वतत्रता मिलती है, और बाह्य के साथ अन्तर के साम्य का निरुपद्रव सदेश।

रुप की चपा अपने स्नेह की छाया-डाल पर पल्लवों के भीतर अधखुली कोमल सरल चितवन से अपरिचित ससार को देखतीं, न-जाने किस अज्ञात चंचल भावावेश मे डोलकर अपने गृह के पत्र-द्वार बंद कर लेती है; अरूप के इस चपल रूप-स्पर्श से कवि के मस्तिष्क की सुप्त स्मृतियाँ तत्काल आँखे खोल देती, रूप की स्वर्णच्छवि चित्त के चित्र-पट पर अपनी सपूर्णता के साथ सुडौल अंकित हो जाती है। वह उस मूक वाणी मे प्राणो का संचार कर देता है—वही प्राण, जिसका अनुभव, पुलक अभी-ही-अभी उसे रोमांचित कर चुका है। साहित्य के एक पृष्ठ मे एक विकच नारी-मूर्ति, तम के अतलप्रदेश से मृणाल-दंड की तरह अपने शत-शत दलों को संकुचित संपुटित लेकर, बाहर आलोक के देश में, अपनी परिपूर्णता के साथ खुल पड़ती है। जड़ों मे प्राण सचरित हो जाते, अरूप में भुवन-मोहिनी ज्योतिःस्वरुपा नारी।

तरंगों की अंग-सचालन-क्रिया, अविराम-प्रवाह, पुनः पुनः आकाश के प्रति उठकर उनकी चुंबन-चेष्टा, सहस्रों भंगिमाएँ, उठ

उठ बार'बार गिरना, गिर-गिर उठने की शक्ति प्राप्त करना, उत्थान और पतन के बीच इतना ही विराम प्राप्त कर क्रमशः बढ़ते ही जाना प्रत्यक्ष कर कवि के हृदय का, आदि-सृष्टि के रहस्य का बंद द्वार खुल जाता है; किस तरह, कितने दुःसाध्य अध्यवसाय के पश्चात्, सहस्रों निष्फल-सफल चेष्टाओ के भीतर से अधार-पद्म की सुप्त शक्ति जाग्रत् हो सहस्रार मे परमप्रिय ब्रह्म से मिलती है, वह दर्शन कर लेता है। जीवन की पराजय का फिर उसे भय नही रह जाता। अविराम प्यास, चिर'तन, कामना जिसे सदा ही बहती हुई लहरो मे वह देखता है, साहित्य के हृदय में प्रिया की तृष्णा के रूप से अपने अनुभव-सत्य की इस तरह की पंक्तियाँ छोड़ जाता है—

"जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन न तिरपित भेल।
लाख-लाख युग हिये हिय राखनु
तयो हिय जुड़न न गेल।"

भावना के हृदय में रूप की विदग्धता की आग भर देता है—नारी भावनामयी बन रूप के शिखर पर चिरकाल बैठी रहती है, अमर अक्लाँत वह अनुपम मूर्ति माईकेल ऐंजेलों की भावना मूर्ति की तरह मनुष्य जाति के हृदय की जाग्रत् देवी, शक्ति की अपार महिमा, सौंदर्य की प्रेयसी प्रतिमा बनकर मनुष्य-समाज को स्वतंत्र विचारो की ओर मौन इंगित से बढ़ाती हुई।

हमारे साहित्य का ध्येय

आज हमारे साहित्य को देश तथा साहित्यिकों के समाज में वह महत्व प्राप्त नहीं, जो उसे राजनीति के वायु-मंडल में रहनेवालों में, जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप से प्राप्त है। इसीलिये हमारे देश के अधिकाश प्रान्तीय साहित्यिक राजनीति से प्रभावित हो रहे हैं। यह सच है कि इस समय देश की दशा के सुधार के लिये कार्यकरी सच्ची राष्ट्रनीति की अत्यंत आवश्यकता है, पर यह भी सच है कि देश मे नवीन संस्कृति के लिये व्यापक साहित्यिक ज्ञान भी उसी हद तक जरूरी है। उपाय के विवेचन में वही युक्ति है, जो राजनीतिक कार्य-क्रम को क्रियात्मक रूप देती है। एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्व देता है, तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है, जो उन्नति और स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये, शरीर के तमाम अंगों की पुष्टि की तरह समभाव से आवश्यक है।

राजनीति मे उन्नति-क्रम के जो विचार गणित के अनुसार प्रत्येक दशा की गणना कर संपत्तिवाद के कायदे से कल्पना द्वारा देश का परिष्कृत रूप खींचते हुए चलते हैं, वही साहित्य में प्रत्येक व्यक्ति के इच्छित विकास को निर्बंध कर उनकी बहुमुखी उच्चाभिलाषाओं को पूर्णता तक ले चलते हुए समष्टिगत पूर्णता या बाह्य स्वातंत्र्य सिद्ध करते हैं।

अधिकाश सम्मान्य नेताओं की उक्ति है, पहले राज्य, फिर सुधार, व्यवस्थाएँ, शिक्षा आदि। मनुष्य जब अपनी ही सत्ता पर जोर देकर ससार की बिगड़ी हुई दशा के सुधार के लिये कमर कस लेता है, तब वह प्रायः सोऽहम् बन जाता है, प्रकृति के विरोधी गुणों, दुनिया के अड़चनों तथा मनुष्यों की स्वभावप्रियता को एक ही छलाँग से पार

कर जाता है। समष्टि के मन को यंत्र-तुल्य समझकर अपने इच्छानुसार उसका संचालन करता है। इसी जगह एक सच्चे नेता से एक सच्चे साहित्यिक का मतभेद है। साहित्यिक मनुष्य की प्रकृति को ही श्रेय देता है। उसके विचार से हर मनुष्य जब अपने ही प्रिय मार्ग से चलकर अपनी स्वाभाविक वृत्ति को कला-शिक्षा के भीतर से अधिक मार्जित कर लेगा, और इस तरह देश मे अधिकाधिक कृतिकार पैदा होंगे, तब सामूहिक उन्नति के साथ-ही-साथ काम्य स्वतंत्रता आप-ही-आप प्राप्त होगी, जैसे युवकों को प्रेम की भावना आप-ही-आप प्राप्त होती है, यौवन की एक परिणति की तरह।

संपत्ति-शास्त्र और गणित-शास्त्र कभी ईश्वर की परवा नहीं करते। उनके आधार पर चलने वाले नेता भी अदेख शक्ति या अज्ञात रहस्यों पर विश्वास करना अपने को पंगु बनाना समझते हैं, और उनके लिये यह स्वाभाविक है भी, जब संपत्ति और गणित के साथ देश की मिट्टी में उन्हें जड़-ही-जड़ मिलता है, और उनकी स्वतंत्रता भी बहुत कुछ जड़ स्वतत्रता है। साहित्यिक के प्रधान साधन हैं सत्, चित् और आनन्द। उसका लक्ष्य है अस्ति, भाति और प्रिय। उसकी स्वतंत्रता इनकी स्फूर्ति से व्यक्ति के साथ समष्टि के भीतर से आप निकलती है।

साहित्य के व्यापक अंगो में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते है कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह दबना नही चाहता, कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि मे 'पहले मुर्गी, फिर अंडा या पहले अंडा तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत् को अंतर्जगत् के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिये भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर

भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गदगी पर इत्र का छिड़काव। इस तरह विवाद-व्याधि के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर है, जड प्राप्ति द्वारा, रुपये पैसे या जमीन से उसका निराकरण हो भी नही सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यही सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सबध है। सस्कृत जीवन कुम्हार की बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रायः एक दूसरा तरीका अख्तियार कर बैठते हैं, वह, साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिणति आप प्राप्त करेगा।

इस समय देश मे जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि-आदि की जातीय रेखाओ से चक्कर काटती हुई गगासागर, मक्का और जरुसलेम की तरफ चलती रहती हैं, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है। उनके इन दुष्कृत्यो का सुधार भी साहित्य मे है, और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन काय, नई स्फूर्ति भरनेवाला, नया जीवन फूंकनेवाला है। साहित्य में बहिर्जगत्-संबधी इतनी बड़ी भावना भरनी चाहिए, जिसके प्रसार मे केवल मक्का और जरुसलम ही नहीं, किंतु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गगासागर तक रही, तो कुछ जनसमूह मे मक्के का खिचाव जरूर होगा, या बुद्धदेव की तरह वेद भगवान् के विरोधी घर ही मे पैदा होंगे। पर मन से यदि ये जड़-संयोग ही गायब कर दिए जा सके, तो तमाम दुनिया के तीर्थ होने में सन्देह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओ, सब अंगो के लिये हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रग यही का है। काल-क्रम से अब हम लोग उस

रंग से खींचे हुए चित्रो से इतने प्रभावित हैं कि उस रंग की याद ही नहीं, न उस रंग के चित्र से अलग होने की कल्पना कर सकते हैं, और इसीलिये पूर्ण मौलिक बन भी नही पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खींच सकते हैं, जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हों।

राजनीति में जाति-पाँति रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग समस्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते हैं। उनमें जितने अंशों में व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं, उतने ही अंशो में वे एक दूसरे से अलग हैं, इसलिये कमजोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है, जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा, तब विरोध में खड क्रिया होगी ही नहीं। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना सहज है।

काव्य में रूप और अरूप

प्राय: सभी-कलाओं के लिये मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है, जो भावना-पूर्ण सर्वांग-सुंदर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है, वह उतना बड़ा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब संसार की विभिन्न सभ्यता-प्रसूत वस्तु भावनाओं का श्रेणी-विभाग, संचय तथा उपयोग नहीं हुआ था, कलाएँ अपने-अपने देश, संस्कृति तथा कलम के अनुसार विभिन्न आकार, इंगित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यंजना कर रही थी, जो तमाम भिन्नताओं के भीतर से एक भावसाम्य की स्थापना करती थी। संसार की भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार-भर के लोगों को वह आत्मिक लाभ पहुँचा। फल-स्वरूप कला मे देश-भाव की जो संकीर्णता थी, आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड़ दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारों से होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-संबंध जोड़कर लोग उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगे।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पड़ा। प्राचीन मालकौश राग की वीर मूर्ति अँगरेजी-स्वर मे, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की ग़ज़लो मे मिलने लगा, और बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता थिएटरों की मित्र-हृदय को गुदगुदाकर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागीनियों ने ले ली। इसी प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य वैशिष्ट्य की परिखा को पार कर संसार के प्रांगण मे नए दूसरे-ही दूसरे रूप से देख पड़ने लगे। उनके रूप-भाग मे कुछ देशीय विशिष्टता रह गई, पर अरूप भाग से वे मनुष्य

मात्र की संपत्ति बन गए। अरूप-अंश, वर्णना-भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अक्लेद रहा, रूपअंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।

रवींद्रनाथ भारतीय काव्य-साहित्य में इस कला के निपुण कलाकार हैं। उनका एक उदाहरण दूँगा—

"अचल आलोके रएछ दाँडाए,
किरण-वसन अंगे जडाए,
चरणेर तले पड़िछे गड़ाए,
छड़ाए विविध भंगे;
गंध तोमार घिरे चारि धार,
उड़िछे आकुल कुंतल-भार,
निखिल गगन कांपिछे तोमार
परस-रस-तरंगे।

(अचल प्रकाश में तुम खड़ी हुई हो, किरणों की शुभ्र वसना, चरणों से ज्योति का वस्त्र विविध भंगों से टूटता ढुलकता हुआ। सुरभि तुम्हारी चारो दिशाएँ घेरे हुए है। केशों का व्याकुल भार उड़ता हुआ तुम्हारे स्पर्श रस की तरंगों से अखिल आकाश प्रकंपित हो रहा है।

यह नारी-मूर्ति इतनी मार्जित है कि इसे देखकर कोई विश्व-नागरिक इस ज्योतिर्मयी छवि पर मुग्ध हो जायगा। तुलसीदास के केवल सौंदर्य राम की तरह रवींद्रनाथ की इस सुंदरी में जडता अणुमात्र के लिये भी नहीं। यहा एक जगह रवींद्रनाथ का पश्चिम-स्नेह रूपमय प्रमाण के तौर पर प्रत्यक्ष होता है। जहा चरणों से ज्योति का वस्त्र टूटता हुआ गिरता है, वहाँ ध्यान पश्चिम की साम्राज्ञियों के पीछे लटकते हुए लंबे वस्त्र के छोर की ओर जाता है।

सौंदर्य, रूप तथा भावनाओं के आदान-प्रदान मे केवल पूर्वपश्चिम से प्रभावित हुआ, यह बात नहीं; सहृदयता का अमृत यहा से वहा भी अपनी मृत-संजीवनी का विशिष्ट परिचय दे रहा है। जिन-जिन प्रातो में अंग्रेजी शासन का पहला प्रभाव पडा, इस नवीन साहित्य की जड वहाँ-वहाँ पहले जमी, और इसलिए वहाँ के साहित्यिक इस कार्य मे बहुत कुछ प्रगति कर चुके। मेरा मतलब खास तौर से सुवर्ण बंगाल से है। बंगाल के अमर काव्य 'मेघनाद वध' के रचयिता माइकेल मधुसूदनदत्त के सबंध मे यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना कई देशों के महाकवियो के अध्ययन के पश्चात् की थी। फ्रेन, ग्रीक, लैटिन आदि कई भाषाए जानते थे, और योरप में रहने के समय काव्य-शास्त्र मे काफी प्रवेश कर लिया था। कुछ हो, माइकेल मधुसूदन की रचना मे जितनी शक्ति मिलती ह, उतना जीवन नहीं मिलता। रवींद्रनाथ द्वारा वग-भाषा को वह जीवन मिलता है। उनकी अकेली शक्ति बीस कवियो का जीवन तथा इद्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केंद्र से निकली और फैली।

हिंदी मे छायावादी कहलाने वाले कवियो से इसका श्रीगणेश हुआ। प्राचीन साहित्य के रक्षकों की साहित्यिक प्रतिष्ठा को पार कर अपनी नवीनता को जड साहित्य के हृदय मे पूर्ण रीति से जमाने में अकृतकार्य रहने पर भी अधिकांश आलोचकों के कहने के अनुसार, पद्य-साहित्य का बाजार आजकल इन्हीं के हाथ है। श्रेय अभी खड़ी बोली के मध्यकाल के कवियो को मेरे विचार से अधिक है, पर जहाँ प्राणों की बात उठती है, वहाँ आधुनिक कवि ही ज्यादा ठहरते हैं। प्रसादजी की भावनाओ और पतजी के चित्रो मे अभीप्सित नवीनता की कोमल किरण बडी खूबसूरती से फूट निकली है।

पर अभी हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमार्जित और भी विराट् भावनाएँ मिलनी चाहिए। इतने ही से उसका दैन्य दूर

नहीं होता, और न अभी उसकी दिगत पुष्टि ही हुई है। जैसा भी कारण हो, हिंदी के नवीन पद्य-साहित्य मे विराट् चित्रो के खीचने की तरफ कवियो का उतना ध्यान नही, जितना छोटे-छोटे सुदर चित्रो की ओर है। युक्तप्रांत, बिहार, मध्यभारत, मध्यप्रांत आदि एक ऐसी प्रकृति की गोद मे हैं, जहाँ विराट् दृश्यों की अपेक्षा बाग तथा उपवनो के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते है। बड़ी-बड़ी नदियाँ, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नही मिलते। रवींद्रनाथ द्वारा अंकित सौंदर्य का एक विराट् चित्र—

> जेनो गो विवश होयेछे गोधूली,
> पूरबे आँधार बेणी पड़े खुला,
> पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया
> सोनार आँचल तार।

(मानो गोधूलि विवश हो रही है, पूर्व ओर उसकी अंधकारवेणी खुली पड़ती है, और पश्चिम की तरफ खुल-खुलकर उसका सोने का आँचल गिर रहा है।)

छोटे रूप की क्षणिक प्रभा मे स्थायी प्रभाव न मिलने के कारण रवींद्रनाथ कहते हैं—

"क्षुद्र रूप कोथा जाय बतासे उबिया दुइ चारि पलकेर पर"

(छोटा रूप न-जाने कहाँ हवा मे दो ही चार पल मे उड़ जाता है।)

काव्य मे साहित्य के हृदय को दिगंत-व्याप्त करने के लिये विराट् रूपो की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नही दिखलाया जा रहा। रूप की सार्थक सुविराट् कल्पनाएँ संसार के सुंदरतम रंगों से जिस तरह अंकित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी

आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष। इस तरह काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख-दुःखमय चित्रो को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता मे होगी। जैसे—

कभी उड़ते पत्तो के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।



साहित्य का फूल अपने ही वृंत पर

कला निष्कलुष है। दुनिया मे वह अपना सानी नहीं रखती। साहित्यकार के लिये उसके अपर अंगो के ज्ञान से पहले बोध आवश्यक है। जैसे बीजमंत्र, उसका अर्थ, पश्चात् अनिद्यसुंदर रूप उसी के फूल की तरह उसके अर्थ के। डठल पर खिला हुआ। नया जन्म जिस तरह, एक युग की सचित अनुभूतियाँ अपने भीतर से रूप और भाव पैदा करती हैं; यही युगातर की कला है—साहित्य मे रस और रूप के परिवर्तन का दिव्य स्रोत। सूक्ष्मतम विवेचन सनातन को जिस तरह नित्य स्थिति देता है, उसी तरह कला भी नित्य रहस्य मे दाखिल है—अपरिवर्तनीय; पर नए कोपल, नए फूल, नई शरत्, नई आँखे, नई शशि-स्निग्ध दृष्टि और नई रोशनी अपने समय के नकाब के भीतर से अचंचल देखती हुई लोगो की नज़र बाँध ही लेती है। इसीलिये नित्य-नवीन, चापल्य-तल्प, अप्रसंग काम्य, साहित्य की एक ही कल्पलता है। जिसे पुरानापन कहते है, वह जैसे एक युग तक एक खास तौर की कला पर नज़र फेरने हुए अभ्यास के जग की ही मलिनता हो; फिर जैसे सुबह के सूरज की किरनों से निखरा, शबनम का धुला हुआ नया फूल अकल डाल पर उत्कीर्ण कला का एक नैसर्गिक चुंबन बन रहा हो। साहित्य की जमीन खिल उठती है।

• •

कला का आकरण-भेद वैसा ही है, जैसा व्याकरण का; जल जड़ हुआ, जड़ जल; ऐसा ही दर्शन-शास्त्र मे। महत्व सिर्फ सामयिक है। समय का प्रभाव ही एक खास जल को तीर्थ-जड़ और जंगम चेतन बना देता है, जैसे कैलास की अर्धेंदु-शिखरा कला गंगा को महत्व देती, कृष्ण की अखिल 'तत्वमसि' कला यमुना को, महाकालेश्वर

की पल-त्वरित पदताल क्षिप्रा को, अनसूयाजी की पयःस्राविनी तपस्या पयस्विनी को। कला उसी तरह समय के स्वर्ण-घट में प्राण प्राप्त कर पूजक साहित्यिकों की दिव्य दृष्टि बन जाती है, जिससे साहित्य का असामयिक जड़ पिघलकर जल बनकर बह चलता है।

जैसे संगीत में किसी एक रागिनी की प्रधानता नहीं, बंगाली, पूरबी, मुलतानी, ग़ज़ल, कनाडी, तिलंगी, वैरारी, लखनऊ की ठुमरी आदि ऐकदेशिक तथा मिली हुई रागनियों के सार्वभौम प्रचार के साथ-साथ छहो राग तथा रागनियाँ सर्वत्र गाई जाती हैं, और अब देश के प्राणों के साथ बिलकुल परिचित की तरह मिल गई हैं, वैसे ही कला के अपने सामयिक लिबास से पहलेपहल आने पर थोड़े ही से लोग वह रग व रूप पहचान सकते हैं; क्योंकि अपने समय की वस्तु का आविष्कार, पूर्व-सूचन, परिचय और समर्थन आदि विज्ञानवेत्ता ही करते हैं। हर रागिनी की जान की तरह सामयिक साहित्यकला की भी एक जान है। जान रागिनी की सच्ची पहचान है, और साहित्य-कला की पहचान उसकी व्यापक महत्ता, एक असर जो दिल को खिलाता और हिलाता है, मौसम की तरह, एक ख़िज़ाँ, दूसरा बहार। दोनों में अलग-अलग स्वर बज रहे हैं।

हर देश की एक खुसूसियत कहलाती है, जो उसकी आबोहवा से मिली होती है। हिंदोस्तान की जितनी बातें प्राणों से मिली हुई आत्मा बन गई हैं, वे इस समय उसकी अपनी चीजें कहलाती हैं। अपनी स्कृति पर हम इसे ही पहले की संस्कृति और अब अभ्यास में बदली हुई परिणति कहते हैं; यह आत्मा होकर भी आत्मा नहीं, जीर्णता है, भले ही सनातन हो। हम नवीनता को ही यहाँ सनातन कहेंगे। आत्मा पुरानी नहीं होती, चोला पुराना होता है। इस तरह, पकड़ रखने की कोई चीज़, कोई संस्कृति नहीं हो सकती, और चोला पकड़ रखने पर भी पकड़ा नहीं रहता। आब और हवा पकड़े नहीं जा

सकते। इसलिए देश की आबोहवा या खुसूसियत कोई चीज़ नही हो सकती। स्वामी विवेकानद जी इसीलिये हिंदोस्तानियों की कोई नस्ल नही निकालते—"शून्य भीत पर चित्र रंग बहु, तन बिन लिखा चितेरे"—यही यहाँ की नस्ल है।

आब और हवा हर वक्त नए हैं, यहा तक कि कूप-मडूक को भी कुएं के अतल सोते से नया-ही-नया जल मिलता जाता है। हवा रोज़ ताजी चलती, आसमान हर वक्त नए रंग बदलता है। फिर भी लोग सस्कारो के अनुसार की हुई—सोची हुई बातें ही लिखते, चली हुई राहें ही चलते हैं। हम साधारण जन इसे ही अपने साहित्य की, जो कुछ लिए हुए हैं, उसकी रचना-कल्पनाएं किया करते हैं। यही हमारा सनातनधर्म है। इसी किए और सोचे हुए मे डूबकर चमत्कृति को हम लोगो ने संस्कृति बना लिया है। पर जहा जैसे वस्त्रो के बारे मे प्रतिलिपि है, चित्र हैं कि बौद्ध-काल तक यहा सिले हुए कपड़े नही बन सकते थे, यह मुसलमानो की दी हुई विभूति है, यद्यपि सूचि-व्यूह से सुई और नौ-विद्या से Navigation का होना साहित्य संभव है, अस्तु उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि कुर्ता, वास्कट, मिर्जई आदि की सुहावनी प्राचीनता इस देश की आबोहवा के लिये संभव होती हुई भी अब संभाव्यता को बहुत बुरी तरह जकड़े हुए है, जैसे श्री रामजी मिर्जई पहनकर दरबार मे जाते रहे हों! कम-से-कम वैदिक साहित्य के ज्ञाता हमारे आर्य-समाजी भाई तो ऐसा ही कहेंगे।

हम दोनों प्रकार की कला को साहित्य में सन्निविष्ट करते हैं। जिस वृंत पर वह कृति की कलिका खिलती है, वह है भाषा। भाषा भी समयानुसार अपना रूप बदलती रहती है। कला के विकास के साथ-साथ साहित्य में नई भाषा भी विकसित होती है। हरा कैंड़ेदार मजबूत डंठल ही कृशांगी नवीन कला को चाहिए। कोमल और कठोर, आत्मा और प्राणों का ऐसा ही संबंध रहा है। ब्रज-भाषा पूर्ण

भाषा है, खड़ी बोली हिंदी के हृदय की अभात आशा, सार्वदेशिक प्रसार से लिपटी हुई, जड़ और चेतन के विश्व-संसर्ग से बंधन-हीन; चित्रा और विचित्रा। यह घर बड़े ही मर्मज्ञ कला ंत का है। वह व्रज-साहित्य अपने भावना प्रसार को कर्मकाड तथा ज्ञानकाँड के भीतर से शेर के संकोच को झपट में देखना चाहता है। तमाम विश्व, नहीं, तमाम सौर मंडल को क्रिया तथा ज्ञान के भीतर डाल लेना चाहता है; महावीर विजयी सिकदर एक नंगे ंन्यासी का शौर्य निर्भय तंत्र मे प्रदर्शित करता है, इसीलिए यह कला दिग्वसना श्यामा सुंदरी है—ज्ञानाबुधि की अगणित-ऊर्मिमयी महासीमा। वह प्राचीन वसंत आज अनंत-किसलय-मृदुल पुष्पसंकुल स्निग्धवायु- ंपित मर्मर ध्वनि करता, अभ्यास जीर्णता उड़ाता हुआ पुनः प्रतिष्ठित होना चाहता है।



हिंदी-कविता-साहित्य की प्रगति

अज्ञात अनादि काल से लेकर आज तक समय के परिवर्तन के साथ ही साथ हमारे भाषा-साहित्य का भी परिवर्तन होता गया है। जैसे साहित्य भी सृष्टि की नश्वरता के नियमो मे बँधा हो—"नवानि गृह्णाति" के अनुकूल चल रहा हो। जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कारण, युग-धर्म के रूप से, साहित्य मे इस प्रकार के परिवर्तन करते आए है, इस लेख मे, उन पर विचार न किया जायगा। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सुयोग्य सभापतियो द्वारा इस विषय पर बहुत कुछ विचार हो चुका है। कम-से-कम, सतोष करने के लिये, कुछ अपभ्रष्ट शब्दो की सूची तो तैयार हो ही चुकी है। समय के प्रवाह मे जिन अनेक शब्दों को पड़ना पड़ा, लोक-रुचि से घिसा हुआ एक परिवर्तित स्वरूप धारण करना पड़ा, प्रसंगवश, हम उन्हे ही ग्रहण करते हैं, और कहना चाहते हैं कि इतने प्रवर्तन के होने पर भी उनकी आत्मा में विकार नहीं हो पाया—उन अपभ्रष्ट शब्दों में अधिकाश शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ में किसी प्रकार की विकृति नही हुई। इस तरह, हम देखते हैं, वैदिक साहित्य की जो निर्मल आत्मा थी, अनादि काल से आते हुए प्रवर्तनों के प्रतिघातों से जाग्रत्, सुप्त और मूर्च्छित, हमारे भाषा-साहित्य के वर्तमान क्रम हिंदी में भी वही आत्मा मौजूद है। हम यहाँ उन शब्दों पर भी विचार नहीं करना चाहते, जिनकी आमदनी दूसरे भाषा-साहित्यों से हुई है। किंतु यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूक्ष्म विचार करने वाले वैदिक पंडितों के प्रमाण से दूसरे भाषा-साहित्य की सृष्टि और पुष्टि वैदिक शब्द-राशि के विकृत रूपों से ही हुई है। किस तरह इधर आर्य-भाषा में अनार्य भाव आए, इतिहास, विज्ञान, "हाँ-न"-वाली सृष्टि की विरोधी युक्तियाँ आदि

इसके प्रमाण हैं। हम इस उलझन मे भी नहीं पड़ना चाहते। हम केवल देखेंगे कि भारतीयता क्या है - जो आज जातीयता के रूप में, एक विचित्र शिरश्चरण-विहीन छाया की तरह दृष्टिगोचर हो रही है— और हमारा वर्तमान कविता-साहित्य हमारी भारतीयता या हमारी वर्तमान जातीयता की ओर कहाँ तक अग्रसर है।

भारतीयता या जातीयता के प्रश्न पर विचार करने के समय जब ज्ञान-काड और कर्म-काड मे विभाजित भारतवर्ष की अनुभूतियों और आचरणों की ओर हम देखते हैं, तो हमे विश्वास हो जाता है— विश्वास ही नहीं, हमे ंतोषप्रद प्रमाण भी मिल जाते हैं—कि हमारी ज्ञान-भूमि की व्याख्या है 'पूर्णता', यदि एक शब्द मे कही जाय, और हमारे तमाम आचरणों का संबंध उसी पूर्णता के साथ रक्खा गया है। 'समाज' की सम्यक् गतिशील रहने वाली 'अज' धातु इसका प्रमाण है। यह गति पूर्णता की ओर ही की गई है। हम यह नहीं कहते कि आदिम सृष्टि-काल मे अनार्यता थी ही नहीं, जड़ था ही नहीं, अनार्यता थी, असत् का आश्रय जरूर था, परंतु बहुत कम था। यह असत् उतना ही था, जितना छाया का ंश पेड़ के नीचे, और सत् उतना, जितना प्रकाश का अंश उसके ऊपर। बल्कि कहना चाहिए, सत् को सिद्ध करने के लिए ही हमारे जातीय शरीर में थोड़ा-सा असत् का अंश आया था। आज तक जितने आचरण बदले, कर्म-काड में जो भेदातिभेद होते गए, वे ज्ञान-काड की पुष्टि के लिए, ज्ञान-भूमि पर स्थापित होने के लिए ही हुए।

उदाहरणार्थ ब्रज-भाषा साहित्य को लीजिए। कबीर उसके वेदांत साहित्य के रचयिता, ुलसी उसके ज्ञान-मिश्रित भक्ति-साहित्य के प्रणेता, सूर उसके अलौकिक प्रेम के दर्शक और अन्यान्य भक्त-कवि उसके दिव्य भावों को पुष्ट करने वाले, समाज के शिरोमणि, जाति के यथार्थ नेता होंगे। भूषण आदि ब्रज-भाषा के ओज उसकी

शिथिल शिराओ मे जातीयता का प्रवाह ·चालित करने वाले होंगे। मतिराम, विहारी, पद्माकर, देव आदि उसके गृह-शरीर की वासनाओं को रूप देने वाले, गृहस्थो के मनोविनोद की सृष्टि करने वाले होंगे। इस तरह व्रज-भाषा की मूर्ति हमारे सामने आ जाती है—जातीय प्रगति का उज्ज्वल चित्र हमारे सामने आ जाता है। हम समझ लेते हैं, वेदात की सर्वव्यापक चेतन भूमि मे विचरण करना ही हमारी मुक्ति है, साहित्य मे—

"सूर परकास तहॅ रैन कहॅ पाइए
  रैन परकास नहिं सूर भासै ;
होय अज्ञान तह ज्ञान कहं पाइए
  होय जहॅ ज्ञान अज्ञान नासै।"
  (कबीर)

"जानिय तवहिं जीव जग जागा ;
  जब सब विषय-विलास विरागा।
होय विवेक मोह-भ्रम भागा ;
  तब दृढ़ चरण-कमल अनुरागा।"
  (तुलसी)

यही भाव हमारी जातीय मुक्ति के सूत्र, हमे लोकोत्तरानंद देने वाले, हमारी जाति की आत्मा, हमारी बुद्धि में सर्वोत्तम सस्कृत, हमे मनुष्य से देवता और देवता से ब्रह्म कर देने वाले हैं।

•भारतवर्ष की किसी भी प्रातीय भाषा को लीजिए, उसके संपूर्ण शरीर का ऐसा ही सगठन होगा। उसमें दिव्य भाव और मानव भावों की ही अधिकता होगी। आसुर भाव बहुत कम होंगे। और, उस भाषा का परिवर्तन भी आसुर भावो के बाद ही हुआ होगा, जैसे उस भाषा-शरीर को नष्ट करने के लिए ही आसुर भावो या इतर प्रवृत्तियों का दौर-दौरा साहित्य मे हुआ हो।

जब हम अपने साहित्य के सुधार की चेष्टा करते हुए अपनी बनी-बनाई आँखों को रोग-ग्रस्त सोचते हैं, उन पर एक दूसरे देश के सुधार का चश्मा रख लेते हैं, उस समय हम भूलते हैं। वर्तमान शासन के 'प्रभाव' वा दोष भी हमारी शिक्षा के साथ सम्मिलित होकर हमें अपनी ओर खींचता है, हमें अपनी शक्ति से वशीभूत कर लेता है। हमारी आत्मा, हमारे अज्ञात भाव से, हमारी नहीं रहती, उनकी हो जाती है ; हम साहित्यिक पराधीनता स्वीकार कर लेते हैं।

भारतीय या जातीय, इन भावों को सामने रखकर हम देखेंगे, हमारी जातीय मुक्ति की ओर हमारा वर्तमान कविता-साहित्य कहाँ तक अग्रसर है।

चाहे जिन कारणों से हो, "भगवान् व्यास तुमको प्रणाम" की गहन श्रद्धा से, कविता में खड़ी बोली की गिटकरियाँ और तान-मूर्च्छनाएँ भरी जाने लगीं। उधर व्रज-भाषा के भक्तों ने सबद्ध होकर रण-घोषणा की। किसके चीत्कार में लालित्य मिलता है, इसकी जाँच चलने लगी। उस समय खड़ी बोली की कविता में प्राण न थे। वह दास्य-वृत्तिवाली ही थी। किसी-न-किसी महापुरुष के पैरों पड़ती रही। अपनी प्रार्थना से लोगों को अपनी ओर बढ़ाती रही। कुछ कवि अपने पूर्व-संस्कारों को जाग्रत् कर खड़ी बोली की शिला पर अपने पुराने ज़ंग लगे महास्त्रों को घिसकर शानदार करने की चेष्टा में रहे। कुछ ने सीता-राम और कृष्ण भगवान् की पुरानी तान छेड़ी। साहित्य के उस काल की पूजा वैसी ही रही, जिसके बंध में कहा है—"अनख आलस हू, राम जपत मंगल दिसि दस हू।" महर्षि दयानंद की वैदिक प्रतिष्ठा के कायल, अपनी जाग्रत् प्रतिभा के ज्वर से जर्जर, निंदोक्तियों द्वारा समाज को प्रबुद्ध करने वाले कवि भी हुए, और सबसे अधिक खड़ी बोली को मधुर करने का श्रेय रहा राष्ट्र के उष्ट्र-मार्क कवियों को, जिन की प्रतिभा के प्रखर प्रवाह से शब्दों के गले में "त्राहि माम्" करने की शक्ति भी न रही।

खड़ी बोली के प्रथम कवियों में आर्य-भावना पर सफलता पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय को हुई। इनकी 'आर्यबाला' शायद इनकी इधर की, १० वर्ष के अंदर की, रचना है; पर है अत्यंत सुंदर—

"कमला-लौ सब काल लोक-लालन-पालन-रत;
गिरि-नंदिनि-समान पूत पति-प्रेम-भार-नत।
गौरव-गरिमामयी ज्ञान-शालिनी गिरा-सम;
काम-कामिनी-तुल्य मृदुलतावती मनोरम।

× × ×

"वह है पति-मन-मधुप के लिए लतिका कुसुमित;
वह है सुंदर सरिस सरोजिनि सम्मति के हित।
वह है मन-मोहन-मुरलिका मधुर-मुखी, मृदु-नादिनी;
पुर-जन-परिजन-परिवार-जन-गोप-समूह-प्रसादिनी।

× × ×

"पा जिनका विज्ञान बनी अति पावन अवनी;
उन ऋषि गौतम-कपिल-व्यास की है वह जननी।

× × ×

"नर है पीवर, धीर, वीर, सयत, श्रमकारी;
है मृदुतन, उपराममयी, तरलित-उर नारी।
नर-जीवन है विपुल-कार्यमय प्रांतर न्यारा;
नाना-सेवा-निलय नारिता है सरि-धारा।
मस्तिष्क-मान-साहस-सदन वीर्यवान है पुरुष-दल;
हैं सहृदयता-ममतावती पयोमयी महिला-सकल।"

× × ×

उपाध्याय जी ही उस काल के एक ऐसे रत्न हैं, जिन्हें दिव्य भावना

की उपासना का श्रेय दिया जा सकता है। इनके चौपदो की सजीवता और भाषा के ऐश्वर्य से हिंदी को मौलिक बहुत कुछ मिला।

शंकरजी की कुछ वेदात की कविताएं मैने देखी है। अन्य भावो की भी अनेक कविताएँ मैंने देखी हैं। इनकी तरह वर्ण वृत्तो और मात्रिक छदों का कुशल कवि हिंदी मे हुआ ही नहीं। मुझे इनकी वर्णन-शक्ति से छंदोधिकार जबरदस्त जान पडता है। हिंदी के एक प्रसिद्ध समालोचक ने इनके सबंध में कभी लिखा था कि इनके उग्र शब्द जैसे अपनी उग्रता सहन न कर सकते हो। "ढकेलू ढग ढॉपने को" इस तरह शब्दों के गढ़ने की ओर इनकी रुचि तो मिलती है, परंतु सफलता के विचार से हमे कहना पड़ता है, इनके शब्द-सगठन में कवि के हृदय की रस-प्रियता का परिचय नही मिलता। इनके शब्द इन्ही के साहित्य तक परिमित रहे। प्रतिभा मे रस ग्राहिता कम रहने के कारण लोगो पर केवल प्रतिभा का प्रभाव ही पड़ा। वे इनके शब्दों के रूपों को अपना कर लेने का साहस नही कर सके।

खड़ी बोली का साचा दुरुस्त हुआ बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त की कविताओं से। गुप्तजी की कविताओ में खड़ी बोली के मार्जन के साथ-ही-साथ सती भावना की एक निर्मल ज्योति भी मिलती है। कवि की भावुकता हृदय को बहुत कुछ शाति करने की शक्ति लेकर प्रकट हुई—

चुन ले चला हमारा साथी सुमन कहाँ तू ?—
माली कठोर माली !
है छोड़ता यहाँ पर केवल कराल कंटक
यह रीति है निराली।
किसको सजायगा रे हमको उजाड़ कर यों,
यह तो हमें बता तू ;

झंखाड छोड़ता है इस वन्य झाड़ पर क्यों,
इत देख यह लता तू ।
× × ×
"मृदु, मद-मद गति से शीतल समीर आकर
दल-द्वार खटखटाता ;
पर सन्न हो विरति से जाता न उसे पाकर
निर्गंध लटपटाता ।"
× × ×
"वह फूल, जो मधुर फल उपमानुकूल लाता,
तू सोच देख मन में ;
भगवान के लिए क्या वह भोग मे न आता,
बलि हो स्वय भुवन मे ।"
× × ×

गुप्त जी की इन पक्तियो मे सहृदयता का स्रोत उमड़ रहा है। कोई पक्ति ऐसी नही, जिससे भावुकता न टपकती हो, और जिसे पढ़कर पाठक सुखानुभव न करे।

गुप्तजी के साथ के अनेक कवि हैं। परतु उन सब में गुप्तजी की ही कविताओ मे आकर्षण की शक्ति विशेष रूप से देख पड़ती है, एक सनेहीजी को छोड़कर। सहृदयता की मात्रा गुप्तजी की कविताओ से सनेहीजी की कविताओ मे अधिक मिलती है। गुप्तजी संस्कृत के शुद्ध प्रयोगो के पक्ष मे रहते हैं, सनेहीजी खिचडी-शैली के पक्ष में ; इतना ही इनमे अंतर मिलता है। सनेहीजी की कविताएँ खिचड़ी-शैली मे होने के कारण स्वाभाविकता से विशेष संबंध रखकर चलती हैं। गुप्तजी की कविताएँ भाषा की एक नीति के आधार पर लिखी गई-सी जान पड़ती हैं, परतु सनेहीजी की कृतियाँ नीति से रहित। अथवा

खिचड़ी-शैली ही उसकी भाषा की नीति-भूमि रही, यह कहना पड़ता है। हिंदी के, अपने समय के, ये दोनों ही कवि महान् हैं। इनसे हिंदी को बहुत कुछ मिला। सनेहीजी—

"उदासी घोर निसि में छा रही थी;
पवन भी काँपती थर्रा रही थी।
विकल थी जाह्नवी की वारि-धारा;
पटककर सिर गिराती थी कगारा।
घटा घनघोर नभ में घिर रही थी;
बिलखती चंचलता भी फिर रही थी।
न थे वे बूँद, आँसू गिर रहे थे;
कलेजे बादलों के चिर रहे थे।
कहीं धक-धक चिताएँ जल रही थीं;
धुआँ मुँह से उगल बेकल रही थी।
कहीं शव अधजला कोई पड़ा था;
निठुरता काल की दिखला रहा था।
खड़ी शैव्या वहीं पर रो रही थी;
फटी दो-टूक छाती हो रही थी।"

प्रकृति में दुःख का कितना सुंदर चित्र है! बादलों से आँसुओं का झरना, रात्रि की स्याही में उदासी, पवन की भीरुता, कंपन, जाह्नवी की जल-धारा में विकलता।

"जगत यह दुःख-सुखमय है अगर यह हम समझते हैं;
समझिए तो कि इनका भेद ही हम कम समझते हैं।
समझवाले इसे बस, एक मन का भ्रम समझते हैं;
बुरा क्या वे समझते हैं, बहुत उत्तम समझते हैं।"

× × ×

"वही सलिला सरस जिसमे हमारी सैर होती है;
महानिर्भय-हृदय बनके भरी नौका डुबोती है।"

× × ×

"मनस्वी वीर अपने चित्त पर अधिकार रखते हैं;
न दुख की भीति रखते हैं, न सुख का प्यार रखते हैं।
स्ववश निज इंद्रियाँ ही क्या, सकल संसार रखते है;
इसी से दीन का उपकार, निज उद्धार रखते हैं।"

सनेहीजी की रचनाओं मे पाठक देखे, किस खूबी से रसो और भावों का स्फुरण हुआ है।

पंडित रामचरितजी उपाध्याय की भी कोई-कोई रचना सजीव हो गई है। इधर कुछ दिनों से राजनीति और साहित्य के मिश्रण पर लिखते रहने के कारण अब यह कवियों की पंक्ति से उठकर उपदेशकों के स्वर मे स्वर मिला रहे हैं। कवि की सहृदयता पर डिपुटी उपटसिंह का प्रभाव पडा है। इनकी—

"लड़ नही सकता मुझसे कभी,
तनिक भी नृप-बालक स्वप्न में;
कब, कहाँ, कह तो, किसने लखा,
कपि, लवा-रण वारण से भला?"

इस तरह की ललित रचनाएँ बहुत थोड़ी हैं। परंतु हिंदी के कविता-साहित्य में इन्होने भी अपना एक सरल, निराला ढंग रक्खा और उसकी श्री-वृद्धि की।

पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी, पंडित रूपनारायणजी पाडेय, श्रीयुत गोपालशरणजीसिंह, पंडित लोचनप्रसादजी पाडेय आदि कवियों की कोई-कोई रचनाएँ उच्च कोटि की, हिंदी की स्थायी संपत्ति, नारिकेल के फल की तरह अंतःसलिल-सिक्त और मधुर हुई हैं। विस्तार-भय से

उनके उदाहरण नहीं दिए जा सके। यहाँ तक हिंदी के कवियों का यह जो प्रवाह रहा, इसमें दिव्य भावों के दीपक तो अनेक छोड़े गए, परंतु वे जलते हुए जाति के जीवन समुद्र तक नहीं जा सके घृत का अभाव था। कवियों की आत्माएँ प्रभात के शिशिर-स्नात फूलों की तरह प्रसन्न होकर खिल नहीं सकतीं—भाषा की नवीन तन्त्रियों में झंकृत कोई जागृति की प्रभाती नहीं सुनाई पड़ी। अभाव की वेदना से पीड़ित करुणा की क्षीण रागिनी उठकर संध्या के अंध वातावरण में विलीन होती रही। कुछ लोगों ने अपने गौरव के गीत भी गाए; परंतु उस समय के प्राकृतिक अभाव को वे दबा नहीं सके, उनके स्वर से ऐश्वर्य की उज्ज्वल किरणों ने स्वर नहीं मिलाया। लोगों की दिव्य भावनाओं को उनकी कविताओं से एक प्रकार से प्रोत्साहन-मात्र मिला। उस ऐश्वर्य की ध्वनि में "क्या खाया ?" प्रश्न के "चने की रोटियाँ और बैंगन का खुश्क कबाब"-जैसे उत्तर की तरह, स्पर्द्धा और कर्कशता ही रही, प्राणों की प्रसन्न पूर्णता नहीं। पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी ने खड़ी बोली की कविता का जो दूसरा युग स्वीकार किया है, यह वही है। इसमें सहृदयता कम और शक्ति का विकास अधिक मिलता है। गरियार बैल से हल चलवाने की चेष्टा की तरह ही खड़ी बोली के शब्दों से कविता की जमीन पर संसरण का गुरु कार्य कराया गया है।

शब्दों के अपभ्रष्ट रूपों में भी जिस तरह उनकी आत्मा की प्रथम ज्योति मिलती है, जिस तरह वैदिक संस्कृत से अवतीर्ण, भारतवर्ष की दूसरी भाषाएँ, वैदिक और संस्कृत की मुक्ति की तरह, अपने कर्म-कांड द्वारा अपनी ज्ञान-राशि का प्रकाश विकीर्ण करती हुई, अबाध मुक्ति की ओर अग्रसर होती गई हैं, और तब तक अभीप्सित विराम के आसन पर रहीं, जब तक उनके साहित्य-शरीर को जीर्णता ने ग्रस्त नहीं कर लिया, उसी तरह खड़ी बोली की प्रगति भी उसी मुक्ति की

ओर होती जा रही है। यह मुक्ति इसे दिव्य भावना के बल से प्राप्त होगी। भारतवर्ष का जल-वायु इसी के अनुकूल है। जड परमाणुओं के आघात-प्रतिघातो से, कविता मे जडत्व के प्रचार से, न भाषा की मुक्ति होगी, न उससे सबद्ध इस जाति की ही मुक्ति हो सकती है। यदि देश का अर्थ मिट्टी है, यदि विश्व के माने मिट्टी का एक बृहत् पिंड है, यदि देश के उद्धार से मिट्टी के आधार का अर्थ सिद्ध होता है, यदि विश्व मैत्री का सिद्धांत जड़-शरीर से प्रेम करने की शिक्षा है, और यदि आजकल के कवि इन्ही भावनाओं की पुष्टि करेंगे, तो निस्सदेह इससे भाषा के साथ भाषा के बोलनेवालो की मुक्ति असंभव होगी। इस जाति के प्राण जड से नही, चेतन से मिले हुए हैं। यहाँ का कोई सुधार योरप की तरह प्रतिघात के बल से नही हुआ। कहा जा चुका है—यहाँ का कर्म-काड दिव्य भावो से संबंध रखनेवाला, चेतन की ओर ले चलनेवाला रहा है और इस समय भी है, चाहे कोई कविता लिखने का कर्म करे या संपादन का या कुछ और। राजनीति की दृष्टि से हमारा यह पतन हमी से हुआ हमारे इतर कर्मों के कारण, हमारी दिव्य भावना के अभाव से, हमारे जडाश्रय दुर्गुणो के प्रभाव से। हमी ने कमजोर होकर अपने शासन के लिये दूसरा को आमत्रित किया, और तब तक दूसरे हमारे शासक रहेंगे, जब तक इस अपनी जातीय प्रतिष्ठा, जातीय मुक्ति, दिव्य भावना के अनेकानेक महास्त्रो से, प्राप्त न कर सकेंगे।

जिस तरह बाह्य भूमि में इस प्रकार के शासक और शासित रहते हैं, उसी तरह साहित्य की भूमि में भी रहते हैं। कारण, साहित्य किसी जाति का ही साहित्य हुआ करता है और यदि वह किसी दुर्बल जाति का हुआ, तो दूसरी सब जाति का उस पर प्रभाव पडना स्वाभाविक हो जाता है। हमारी पराधीन हिंदी पर पराधीनता के ही कारण फारसी का प्रभाव पड़ा, अंग्रेजी का पड़ रहा है, और आश्चर्य है, उसकी

प्रांतीय सहेलियाँ, बँगला-मराठी आदि, भी उस पर रोब गाँठ रही हैं। ब्रजभाषा हिंदी के समय फ़ारसी को छोड़कर दूसरी किसी प्रांतीय भाषा को उस पर प्रभाव छोड़ने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ ; बल्कि बँगला-जैसी प्रांतीय भाषाओं पर उसी का प्रभाव पड़ा है। दूसरी भाषाओं से रत्नों को अवश्य ग्रहण करना चाहिए ; परंतु प्रभावित होकर नहीं—प्रीत होकर।

हिंदी के उस युग की सृष्टि में, कहा जा चुका है, सहृदयता की मात्रा बहुत अधिक न थी। "भाषा की प्रथम अवस्था में जितना हुआ, बहुत हुआ" के विचार से संतोष करने के लिए यह बहुत है ❀।



❀ श्रीयुत बाबू जयशंकरजी "प्रसाद", पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी, पंडित मुकुटधरजी पांडेय, पंडित बालकृष्णजी शर्मा "नवीन", पंडित सुमित्रानंदजी पंत आदि जिन कवियों की छायावादी कविताओं के नाम से प्रसिद्ध हो रही है, इनकी रचनाओं ने हिंदी को क्या दिया, इस पर किसी दूसरे प्रबंध में विचार करूँगा।—लेखक

हमारी 'लाइब्रेरी-योजना

गाँव-गाँव और शहर-शहर में

१,००,००० घरेलू और सार्वजनिक लाइब्रेरियाँ खुलवाइए !

अन्न-दान से परे कोई दान नही, किंतु विद्या-दान उससे भी श्रेष्ठ है। कारण, अन्न से आप आदमी की शारीरिक भूख ही शात करते है, किंतु विद्या से उसकी शारीरिक मानसिक और आत्मिक भूख शात करते हैं—उसका लोक-परलोक बनाते हैं। शारीरिक भी इसलिये कहा कि पढाकर आप उसे काफी शारीरिक भोजन कमाने लायक बनाते है। इसलिये शास्त्रो मे विद्या-दान को ही सर्वश्रेष्ठ दान बतलाया गया है।

विद्या-दान के मुख्य केन्द्र स्कूल, कालिज, गुरुकुल और विश्वविद्यालय ही हो रहे है। किंतु विद्या-दान का इससे कही सुसंस्कृत और सुंदर स्वरूप लाइब्रेरी-स्थापन है। कारण, स्कूल-कालिज में किसी बालक या बालिका को पढाकर आप जहाँ उसी एक को लाभ पहुँचाते हैं, वहाँ लाईब्रेरी खोलकर अपने को, अपने घरवालों को, पडोसियों को और जो लाभ उठाना चाहें, उन्हे लाभ पहुँचाते हैं। लाईब्रेरियों मे सबो के लिए उपयोगी किताबे रह सकती हैं, इसलिये बालक, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सभी समान रूप से उनसे लाभ उठा सकते हैं।

भारत-भर मे २०० से ज्यादा हिंदी भाषा-भाषी जिले तथा लगभग २,८००,००० गॉव अवश्य हैं- हिंदी बोलने वाले २० करोड़ मनुष्य जरूर हैं। क्या इनमे से १ लाख भी हिंदी पढ़े-लिखे ऐसे मनुष्य नही मिल सकते, जो ६००) सालाना या ५०) मासिक से ज्यादा आमदनी रखते हो, और वर्ष में ६) या महीने में ।।) अर्थात् एक पैसा रोज हिंदी-हित के लिए खर्च कर सकें? हमारी राय में अवश्य मिल सकते हैं, और मिलेंगे। आवश्यकता है, "हिंदी पढ़ें,

आगे बढ़ें" का भाव हिन्दी-भाषा-भाषी भाई बहनों में जगाने की। बँगला, गुजराती, मराठी भाषी पढ़े लिखे भाई बहन शायद ही कोई ऐसे हो, जिनके यहाँ अपनी मातृभाषा के ग्रंथ न हो। तभी तो ये सब साहित्य तेजी से तरक्की कर गए हैं। क्या हमें पीछे रहना चाहिए? कदापि नहीं। तो फिर क्या आप अपने घर में घरेलू पुस्तकालय खोलेंगे? अवश्य एक छोटी, पर अच्छी पुस्तकोंवाली लाइब्रेरी खोलिए। पुस्तकों का चुनाव सावधानी से कीजिए। हम इसमें आपकी पूरी मदद करेंगे। हमारे यहाँ अपनी पुस्तकों के अलावा हिंदुस्थान-भर की पुस्तकें रहती हैं। प्रत्येक नगर में दूकानें हम खुलवा रहे हैं, और १० कन्वेसर तथा ५०० एजेंट हमारे भारतवर्ष-भर में फैले हुए हैं। आप नियम मँगाकर, विशेष वितरक बनकर २००) से ४००) मासिक कमा सकते हैं।

कहना न होगा, इस स्कीम से २० वर्ष में १-२ हजार सुंदर ग्रंथ निकल जायँगे, और कई सौ लेखक भी तैयार हो जायँगे। साथ ही लेखक जिस प्रकार इस समय भूखों मर रहे हैं, उनकी वैसी अवस्था न रहेगी। सारा देश भी उन्नत और समृद्धिशाली हो जायगा। यह सब पुण्य आप लूटेंगे। इसलिये हमसे मँगाकर फ़ौरन् प्रतिज्ञा-पत्र भरकर भेजिए और अपने मित्रों तथा संबंधियों से भिजवाइए।

समर्थ सज्जन अपने किसी प्रिय-जन के नाम से सार्वजनिक लाइब्रेरी खुलवाएँ।

स्थायी ग्राहकों से निवेदन

हर्ष की बात है, हमारे कृपालु स्थायी ग्राहकों ने हमारी लाइब्रेरी-योजना के प्रचार-विस्तार में अपूर्व सहयोग दिया है। हम उनके आभारी हैं। अब तक कोई २५,००० घरेलू पुस्तकालय उक्त योजना के अंतर्गत हम खुलवा चुके हैं। १,००,००० लाइब्रेरियाँ खुलवाने की हमारी योजना है। अतएव यदि हमारे कृपालु स्थायी ग्राहक अपने २-२ या ३-३ इष्टमित्रों को और ग्राहक बनवा दें, तो हमारा यह प्रयास पूर्णतया

सफल हो जाय। आशा है, आप हिंदी-सेवा के इस पुनीत कार्य में हमारा हाथ बँटाकर सहयोग देंगे।

दुलारेलाल
(सर्व-प्रथम देव-पुरस्कार-विजेता)
सावित्री दुलारेलाल एम० ए०
(सभानेत्री अखिल भारतीय लेखक-संघ)

हमारा प्रकाशन-प्रोग्राम

सभी विषयों की पुस्तकें छपेंगी

ज्ञान ही सभ्यता का मुख्य आधार है। ज्ञान-राशि का संचय करना मनुष्य मात्र के लिये परमावश्यक है। अब समय दूसरा आ गया है। सभी विषयों की ओर ध्यान देना पड़ेगा। वेदो, पुराणों आदि के संशोधित और प्रमाणित संस्करण कही से भी प्रकाशित नही हो सके। ससार का साहित्य उपयोगी ग्र थ रत्नो से भरा पड़ा है। उनको हिंदी मे लाने का अभी तक कोई स गठित उद्योग नही किया गया। बच्चों के लिये जिन पाठ्य पुस्तको का निर्माण हुआ, उन में भी अभी सुधार की गु जायश है। इसी प्रकार अन्य विषयों मे भी ऐसी ही अपूर्णता दिखाई देगी। किसानो के लिये उपयोगी पुस्तकों की ओर किसी श्रेष्ठ प्रकाशक ने ध्यान ही नहीं दिया। भारत कृषि-प्रधान् देश है, यहाँ की उन्नति अवनति कृषि और कृषकों पर ही अवलंबित है, किंतु अभी तक बहुत थोड़े-से ग्र थ लिखे गए हैं, और जो लिखे भी गए हैं. उनमें वैज्ञानिक और विशद विवेचन नहीं हुआ।

इन सब अभावों की पूर्ति के लिये हम विराट आयोजन कर रहे हैं। इसके अनुसार कार्यारंभ हो भी गया है। अब प्रति वर्ष—

(१) गंगा-पुस्तकमाला ❀
(२) महिला-माला
(३) बालविनोद-वाटिका
(४) सुकवि-माधुरी माला ×
(५) धार्मिक ग्रंथमाला
(६) संस्कृत-साहित्य-सरोवर
(७) संसार-साहित्य-सागर
(८) किसान कुसुमावली
(९) प्रकीर्णांक पुस्तकावली ÷
(१०) पाठ्य पुस्तक-माला +
(११) गुजराती – ग्रंथमाला
(१२) मराठी – ग्रंथमाला
(१३) बंगाली – ग्रंथमाला
(१४) नेपाली – ग्रंथमाला
(१५) ंजाब – ग्रंथ माला

इन १५ मालाओं में विविध विषयों पर हम सिद्ध-हस्त लेखकों द्वारा सुंदर पुस्तकें लिखवाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार एक वर्ष में ६,००,०००) की पुस्तकें प्रकाशित होंगी। पुस्तक का पूरा सेट ६००) तक का होगा। भिन्न-भिन्न विषयों पर ग्रंथ लिखे और प्रकाशित किए जा रहे हैं। धार्मिक ग्रंथ-माला में रामायण का सुंदर संस्करण प्रकाशित हो रहा है, इसके दो खंड प्रकाशित भी हो गए। गीता और पुराणों के भी सुंदर, संशोधित तथा आकर्षक संस्करण प्रकाशित करने की आयोजना हो चुकी है। किंतु इन सबकी सफलता ग्राहकों पर ही निर्भर है। कृपया प्रतिज्ञा-पत्र भरकर भेजिए। १ लाख प्रतिज्ञा पत्र भर जाने पर आप देखेंगे, हिंदी-साहित्य कितना उन्नत हो जाता है, और भारत राम-राज्य के कितने निकट आ जाता है!

❀ सर्व श्रेष्ठ हिंदी लेखकों की उत्कृष्ट पुस्तकें इसमें निकलती हैं।
× हिंदी के प्राचीन सुकवियों के ग्रंथ इसमें निकलते हैं।
÷ फुटकर ग्रंथ इसमें निकलते हैं।
+ सब प्रांतों की कोर्स की किताबें इसमें निकलेंगी।